आधुनिक कविता की भाषा

[आधुनिक खड़ी बोली के लोकप्रिय तीस (३०) काव्य ग्रन्थों की समीक्षा]

द्वितीय खण्ड

भाग ३

लेखक

श्री वृजकिशोर चतुर्वेदी
बी० ए०, एल-एल० बी०, बार-एट-लॉ

प्रकाशक

गयाप्रसाद एण्ड सन्स
गयाकुञ्ज, आगरा

संवत् २००८

१६५१

प्रथम संस्करण

प्रथम खण्ड मूल्य ३।।)

भाग १ व २

द्वितीय खण्ड मूल्य ३)

भाग ३

सम्पूर्ण ६)

मुद्रक

जगदीशप्रसाद एम० ए

एज्यूकेशनल प्रेस, आगरा

विषय-सूची

तृतीय भाग

तृतीय भाग

श्री मैथिलीशरणजी गुप्त का 'साकेत'

(१)

'साकेत' का पंचम संस्करण हाल में ही निकला है, जिससे 'साकेत' की लोक-प्रियता का अच्छा परिचय मिलता है। श्रद्धेय मैथिलीशरणजी गुप्त का यह महाकाव्य द्वादश सर्गों मे समाप्त हुआ है और आलोचकों ने इस महाकाव्य की अत्यंत प्रशंसा की है।

प्रोफेसर नगेन्द्रजी, एम ए ने लिखा है—"साकेत में आकर गुप्तजी भाषा पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त कर लेते हैं। कवि का भाषा पर अधिकार इतना व्यापक और विस्तृत हो जाता है कि वह जैसे चाहे उसका प्रयोग सरलता से कर लेता है। 'साकेत' के किसी स्थल को पढ़कर यह अनुभव हो सकता है कि कवि को कोई भी शब्द ढूँढ़ना नहीं पड़ता है, वह स्वय उसकी जिह्वा • पर आगया है।" (साकेतः एक अध्ययन, पृष्ठ २३८)

लक्ष्मण और उर्मिला के चरित्र-चित्रण मे 'साकेत' ने एक विशेष स्थान प्राप्त किया है 'प्रिय प्रवास' के बाद खड़ी बोली का यह दूसरा महाकाव्य निःसंदेह स्तुत्य एवं प्रशंसनीय है, परन्तु खेद के साथ लिखना पड़ता है कि भाषा की दृष्टि से कोई भी निष्पक्ष समालोचक श्रीयुत नगेन्द्रजी से सहमत नहीं हो सकता।

जिस महाकवि ने 'जयद्रथवध, 'भारत भारती,' 'रंग में भंग,' 'विकट भट,' 'सैरंध्री,' 'वक संहार' और 'विरहिणी व्रजांगना' की परिष्कृत भाषा का खड़ी बोली को दान दिया हो, वही महाकवि 'साकेत' लिखने में इस प्रकार असफल रहेगा, यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है।

श्रद्धेय गुप्तजी ने नवीनचन्द्र सेन के बंगला भाषा के 'प्लासी के

युद्ध का' पद्य में अनुवाद किया है। अनुवाद के नाते या सुन्दर पद्य के नाते–दोनों दृष्टि से 'प्लासी के युद्ध' की भाषा अत्यन्त सुन्दर और मनमोहक है। उसके बाद 'साकेत' पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है न तो भाषा में ओज है और न सौंदर्य। भाषा लडखड़ाती सी प्रतीत होती है। ज्ञात यह होता है कि श्रद्धेय गुप्तजी के सिर पर एक बडा भारी बोझा रखा हुआ है और किसी-न-किसी प्रकार वह उस भार से निवृत्त हो जाना चाहते हैं। उनके पूज्यपाद पिताजी का पुनीत आदेश उनको बार-बार इंगित करता है कि कविता राम सम्बन्धी होनी चाहिए और इसीलिए श्रीराम सम्बन्धी महाकाव्य किसी न किसी प्रकार लिख लिखाकर वह उस ऋण से उऋण हो जाना चाहते हैं जो उनके हृदय को संतप्त कर रहा है। केवल कर्त्तव्य पालन की दृष्टि से लिखे गए ऐसे महाकाव्य में भाषा की वह रस-धारा नहीं मिल सकती जो हृदय के अन्तरतम प्रदेश से उत्पन्न हुए काव्य मे होती है।

इसीलिए इस महाकाव्य में भावों की कोमलता या विचित्रता, पद विन्यास की रमणीयता, और अपूर्वता, शब्दों के लालित्य और झंकार का अभाव खटकता है। भाषा की उस काव्य-धारा का चिह्न नहीं है जो श्रीराम सम्बन्धी महाकाव्य में अपेक्षित थी। भाषा एक सी नही रही है। बारह सर्गों में नई-नई भाषा के जोड़ मिलते हैं। एक एक सर्ग में बीसियों प्रकार की भाषा मिल जाती है जो 'केशव' की 'रामचन्द्रिका' की छाप मात्र प्रतीत होती है क्योंकि काव्य की प्रतिभा जो 'केशव' मे है 'साकेत' में नहीं मिलती। जो 'प्रियप्रवास' की भाषा में सरसता है वह भी 'साकेत' में नहीं मिलती। तो भी बीच-बीच में जो भावपूर्ण स्थल कवि के हृदय से प्रेरित हो उठे हैं उनसे भाषा मे कहीं-कहीं सजीवता अवश्य आ गई है। श्री नगेन्द्रजी ने अपनी समालोचना मे ये सारे भावपूर्ण स्थल चुन-चुन कर एकत्रित कर दिये हैं, परन्तु

'साकेत' महाकाव्य के विशाल आकार में यह भावपूर्ण स्थल बहुत ही कम हैं और भाषा दोष यत्रतत्र बुरी तरह बिखरे पड़े हुए हैं। पंचम संस्करण में भी ये दोष वैसे के वैसे ही देख कर अत्यन्त खेद होता है। 'तुकबन्दी' भी वैसी की वैसी ही छोड़ दी गई है, यथा:—

> अवसर न खो निठल्ली
> बढ़जा, बढ़जा, विटपि—निकट वल्ली।
> अब छोड़ना न लल्ली
> कदम्ब—अवलम्ब तू मल्ली॥

वल्ली, लल्ली, मल्ली, निठल्ली, की तुक कर्णकटु ही नहीं ग्रामीण भी है।

उर्मिला के विरह वर्णन मे निम्नलिखित तुकबंदी कितनी अप्रयुक्त है?

> मिलाप था दूर अभी धनी का
> विलाप ही था बस का बनी का
> अपूर्व आलाप वही हमारा
> यथा विपंची—दिर दार दारा!

'दिर, दार, दारा' की तुकबन्दी महाकाव्य मे कितना सौंदर्य प्रदान कर सकती है यह वे ही समालोचक समझ सकते है जिन्होंने 'साकेत' की भाषा की अत्यधिक प्रशंसा की है। इससे भी अधिक अप्रयुक्त निम्न लिखित कवित्त है जिसकी प्रशंसा एक दूसरे समालोचक महोदय ने की है—

> "नंगी पीठ बैठ कर घोड़े को उड़ाऊँ कहो,
> किन्तु डरता हूँ मैं तुम्हारे इस झूले से।
> रोक सकता हूँ उरुओं के बल से ही उसे,
> टूटे भी लगाम यदि मेरी कभी भूले से।

किन्तु क्या करूँगा यहाँ"? उत्तर में मैंने हँस
और भी बढाए पैंग दानों ओर झूले से।
"हं-हं" कह लिपट गए थे यहीं प्राणेश्वर
बाहर से संकुचित, भीतर से फूले से॥

'भूले से,' 'झूले से', और "बाहर से संकुचित भीतर से फूले से" में सिवाय तुकबन्दी और निम्न कल्पना के और कुछ दृष्टिगोचर नहीं होता।

निम्नलिखित सामग्री इससे भी अधिक काव्यमय है॥ लिखते हैं—

"कुलिश किसी पर कड़क रहे हैं
आली, लायद तड़क रहे हैं
कुछ कहने के लिए लता के
अरुण अधर वे फड़क रहे हैं
मैं कहती हूँ—रहें किसी के
हृदय वही जो धड़क रहे हैं
अटक अटक कर भटक भटक कर
भाव वही जो भड़क रहे हैं।"

'कड़क,' 'तड़क,' 'फड़क,' 'धड़क' और 'भड़क' की इस तुकबंदी ने भाषा में अजीब खड़खड़ाहट पैदा करदी है जो अनावश्यक और निरर्थक प्रतीत होती है। 'लता के अरुण अधर' क्या है? क्या अरुण फूलों से या कोंपलों से तात्पर्य है? वास्तव में, कविता यहाँ बुरी तरह अटक रही है और काव्यधारा भावों की भूल-भुलैयों में भटक रही है।

यदि उर्मिला पागल होकर प्रलाप ही कर रही थी तो उसके प्रलाप की भाषा में भी तन्मयता होनी चाहिए थी जो यहाँ नहीं है। केवल तुक जोड़ने के लिए ही शब्द लाए गए प्रतीत होते हैं यथा—

इहह ! पागल हो यदि उर्मिला
विरह सर्प स्वयं फिर तो किला !
प्रिय यहाँ वन से जब आयँगे
सब विकार स्वयं मिट जायँगे
न अपने सपने रह पायँगे
प्रकटता अपनी दिखलायँगे

'विरह सर्प स्वयं फिर तो किला' में कल्पना की पराकाष्ठा है !! और "प्रकटता अपनी दिखलायँगे" में भाषा नितान्त अशुद्ध है। आशय यह था कि अपनी 'स्थिति' या 'वास्तविकता' दिखलायँगे। वास्तविकता या अस्तित्व के स्थान में 'प्रकटता' का प्रयोग अशुद्ध है। एक स्थान पर लिखा है:—

बता अरी, अब क्या करूँ,
रुपी रात से रार,
भय खाऊँ, आँसू पियूँ,
मन मारूँ झखमार !

यहाँ 'रुपी रात से रार' और 'मन मारूँ झखमार' में निम्न ग्रामीण प्रयोग है। 'झखमारने' में ही 'मनमारूँ' का आशय आ जाता है।

'स्नेह जलाता है यह बत्ती'। बड़ा सारगर्भित पद है, परन्तु तुकबन्दी ने वह भी बुरी तरह बिगाड़ दिया है।

'दीखे जिसमे राई रत्ती'
'खिल जाती है पत्ती पत्ती'
'ठंडी न पड़, बनी रह तत्ती'

की तुकों ने एक सुन्दर पद को हास्योत्पादक बना डाला है। 'गर्म' की जगह 'तत्ती' का ग्रामीण प्रयोग भी है।

इसी तरह एक स्थल पर आया है'—

"आकाश जाल सब ओर तना
रवि तन्तुवाय है आज बना।
करता है पाद-प्रहार वही
मक्खी सी भिन्ना रही मही"

यहाँ ज्ञात होता है कि 'तन्तुवाय' (?) सूर्य फुटबॉल में 'किक' (Kick) लगा रहा है जिसके कारण कविता मक्खी-सी भिन-भिना रही है !!

दूसरी तुकबंदियों की भी कमी नहीं है—

१—मन को यों मत जीतो—
"जन को भी मन चीतो"
"मानस, कभी न रीतो"
"जड़ न बनो दिन, बीतो"

२—अरी, गूँजती मधु मक्खी,
किसके लिए बता तूने वह रस की मटकी रक्खी
"लूटेगा घर लक्खी"
"जहाँ सुधा-सी चक्खी"

ये तुकें निन्दनीय हैं और भाषा को बिगाड़ रही हैं।

एक स्थल पर लिखा है:—

"जनप्राची जननी ने शशि शिशु को जो दिया डिठौना है।
उसको कलक कहना, यह भी मानों कठोर टौना है।"

'डिठौना' और 'टौना' ब्रजभाषा के शब्द हैं और टौना का तो बिल्कुल अशुद्ध प्रयोग हुआ और 'कठोर' या 'कोमल' टौना कैसा होता है ?

एक दूसरा पद बड़ा सुन्दर प्रारम्भ किया है—

कहती मैं चातकि फिर बोल,
ये खारी आँसू की बूँदें दे सकती यदि मोल !

परन्तु बाद मे तुकबन्दी की धुन में यह भी बिगड़ गया है। यथा—

"फिर भी, फिर भी, इस झाड़ी के झुरमुट में रस घोल"
"जाग उठे हैं मेरे सौ सौ स्वप्न स्वयं हिल डोल,
और सन्न हो रहे, सो रहे ये भूगोल खगोल"

'भूगोल-खगोल' का अशुद्ध प्रयोग केवल तुक के लिए लाया गया !!

(२)

हमने अधिकाधिक उदाहरण नवम सर्ग से ही दिए हैं। उसका यह अर्थ नहीं है कि नवम सर्ग में ही तुकबन्दी एवं अन्य भाषा दोष वर्तमान है, दूसरे सर्गों में नहीं। साकेत मे तो प्रथम सर्ग से भी पूर्व मंगलाचरण में ही भाषा-दोष की नीव पड़ चुकी है। वह मगलाचरण निम्न लिखित है:—

'जयति कुमार अभियोग-गिरा गौरी-प्रति,
स—गण गिरीश जिसे सुन मुसकाते है—
'देखो अम्ब, ये हेरम्ब मानस के तीर पर
तुन्दिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं।
गोद भरे मोदक धरे हैं, सविनोद उन्हें
सूँड से उठा के मुझे देने को दिखाते हैं।
देते नहीं, कन्दुक सा ऊपर उछालते हैं।
ऊपर ही झेलकर, खेलकर खाते हैं'

पहले मंगलाचरण सारगर्भित हुआ करते थे। 'साकेत' के मंगलाचरण में यह बात नहीं है। अब मंगलाचरण की कई पंक्तियाँ ध्यान देने योग्य हैं—प्रथम पंक्ति

'जयति कुमार—अभियोग गिरा गौरी—प्रति'

संस्कृत का एक मन्त्र सा प्रतीत होता है और अंतिम चरण—

'देते नहीं, कन्दुक सा ऊपर उछालते हैं
ऊपर ही झेलकर, खेलकर खाते हैं'।

एक अत्यन्त साधारण बोल चाल की भाषा है। दोनों मिश्रित करके मंगलाचरण की रचना पूर्ण हुई है।

अब, प्रथम पंक्ति के शब्द एवं अर्थ अलग-अलग चल रहे हैं। 'गौरी प्रति,' "कुमार-अभियोगगिरा" कल्याण करे—यह साधारण अर्थ होना चाहिए। तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि "गौरी के प्रति कुमार कार्तिकेय ने जो अभियोग लगाया है उसकी वाणी कल्याण करे।"

कवित्त सारा पढ़ जाने पर पता यह चलता है कि कुमार कार्तिकेय ने गौरी के प्रति कोई अभियोग नहीं लगाया। श्रद्धेय कवि यह बात कहना चाहते हैं कि गौरी के समक्ष कुमार कार्तिकेय ने गणेशजी के प्रति या गणेशजी के विरुद्ध एक शिकायत की—एक आक्षेप किया, एक आरोप लगाया वह वाणीकल्याण कारी हो। गौरी के प्रति और गौरी के समक्ष— ये दो बातें बिल्कुल भिन्न हैं। परन्तु कवि ने इस पर ध्यान नहीं दिया।

अब वह शिकायत क्या है? आरोप क्या है? बहुत ही साधारण!! जिसे किसी भी दृष्टि से अभियोग की श्रेणी में लाना कठिन है। कुमार कार्तिकेय की वाणी की प्रथम पंक्ति है:—

"देखो, अम्ब, ये हेरम्ब मानस के तीर पर,
तुन्दिल शरीर एक ऊधम मचाते हैं"।

इस पंक्ति में, 'अम्ब' 'हेरम्ब,' 'मानस तीर' और 'तुन्दिल' संस्कृत के शब्द, और ब्रजभाषा के ग्रामीण शब्द 'ऊधम' मचाते हैं मिला कर यह चरण पूरा हुआ है" और 'ऊधम' शब्द "शोर गुल,

उत्पात" इत्यादि की ओर इंगित करता है। बोध ऐसा होता है कि 'मानसरोवर के तीर पर सहस्रों मनुष्यों की भीड़ है—दौड़ हो रही है,—'हो हो' की चिल्लाहट और भारी करतल ध्वनि से घबरा कर कार्तिकेयजी कहते है कि "हे अम्ब देखो तो कितना ऊधम हो रहा है, गणेश जी कितना ऊधम मचा रहे हैं" परन्तु कवित्त पढ जाने पर पता चलता है कि कोई ऊधम नहीं है वहाँ तो दो भाइयों को छोडकर कोई भी तीसरा व्यक्ति उपस्थित तक नहीं है। वहाँ पूर्ण शान्ति का साम्राज्य है। गणेशजी मोदक रखे हुए बैठे है कार्तिकेयजी को देने को सूँड से उठाकर दिखाते हैं, परन्तु देते नहीं। ऊपर ही उछाल कर स्वयं खा जाते है। सिवाय इस बात के और कोई शिकायत नही है। अगर कार्तिकेयजी स्वय मचलते हों या ताली पीट कर चिल्लाते हों तो दूसरी बात है परन्तु वहाँ तीसरा कोई व्यक्ति ताली पीटने वाला भी नहीं॥ ऐसी परिस्थिति मे "गणेशजी के ऊधम मचाने" की शिकायत सही नहीं है और न 'ऊधम मचाने' के शब्द ही उपयुक्त स्थान पर प्रयोग किए गए हैं।

कवि का आशय यह भी है कि एक-एक मोदक ऊपर उछालते जाते एव स्वयं खाते जाते है परन्तु शब्दों मे ऐसा भाव किंचित् मात्र व्यक्त नहीं हो पाया।

"ऊपर ही झेलकर, खेलकर खाते है" ये मंगलाचरण के अंतिम शब्द हैं।

'झेल' शब्द में कुछ कठिनाई बोध हो रही है। कवि का आशय तो यह है कि ऊपर उछालकर ऊपर ही खा जाते है। उछाला नहीं कि खाया नहीं॥ शीघ्रातिशीघ्र खा जाते हैं। 'खाते हैं' और 'शीघ्र खा जाते हैं' में भेद है। अंतिम शब्द भाव को उपयुक्त रूप से व्यक्त कर सकते थे। 'झेलकर खेलकर खाते हैं'॥ मे खाने में

विलम्ब होने का आभास होता है जो कवि का भाव नहीं है। स्वयं झेलने वाले को कुछ कष्ट भी बोध हो रहा है।

मंगलाचरण के अनन्तर अब सरस्वती की वन्दना है—

अयि दयामयि देवि, सुख दे, शारदे
इधर भी निज वरदपाणि पसार दे

शब्द "वरद पाणि पसारदे" ध्यान देने योग्य है। कवि का आशय कुछ और है-शब्द कुछ और बतलाते हैं।

आशय यह है कि हे सुख देनेवाली दयामयि सरस्वती देवी! अपना वर देने वाला हाथ मेरे सिर पर भी रखदे।

परन्तु 'हाथ पसारना'-'हाथ फैलाना' याचना के भाव में ही प्रयोग होता है—इस विषय मे दो मत नहीं हो सकते। 'पसार दे' ने वन्दना ही अशुद्ध करदी है। भाषा की दृष्टि से यह चरण अत्यंत निंद्य है। शब्दों का अर्थ कुछ-कुछ यह होता है कि—'हे सुख देनेवाली दयामयी सरस्वती देवी! तूने बड़ों-बड़ो को वर दिए हैं। जरा अपना वह वर देनेवाला हाथ मेरे सामने तो फैला तो मैं तुझे एक सबसे बड़ा वर दे दूँ। जरा मेरा भी तो करिश्मा देख'॥

शब्द और भाव अपनी-अपनी राह अलग अलग चल रहे हैं। भाव के अनुरूप ही नहीं-यहाँ तो बिल्कुल भाव के प्रतिकूल-भाषा ने चलना प्रारंभ किया है। 'सिरपर हाथ रखना' और 'हाथ फैलाना' एक दूसरे के विरुद्ध बातें हैं। जहाँ भाषा एवं भाव का यह वैषम्य मंगलाचरण एवं वंदना में ही प्रारम्भ हो गया हो वहाँ सारे ग्रंथ की भाषा का क्या हाल हुआ होगा, यह विज्ञ पाठक स्वयं ही सोच सकते हैं॥ उसके विषय में एक स्वतंत्र लेख लिखना उपयुक्त होगा, परन्तु यहाँ यह बतला देना अनुचित न

होगा कि 'साकेत' के प्रथम चार सर्ग की भाषा भाषा-दोषों से सर्वथा भरपूर है। बड़ा अच्छा हो कि ये चार सर्ग फिर से लिखे जाने का प्रयत्न हो तो अन्यान्य त्रुटियाँ निकाली जाकर महाकाव्य की भाषा परिमार्जित एवं प्राञ्जल हो सके।

सरस्वती-वन्दना के अनन्तर अयोध्या वर्णन में चार माया-मूर्तियों का वर्णन किया गया है, परन्तु रूपक उसमें भी सँभल नहीं पाया।

> "राम सीता, धन्य धीराम्बर इला
> शौर्य सह सम्पत्ति, लक्ष्मण उर्मिला
> भरत कर्त्ता, माण्डवी उनकी क्रिया
> कीर्त्ति सी श्रुति कीर्त्ति शत्रुघ्न प्रिया"

यहाँ राम सीता तो धीराम्बर इला की भाँति है। लक्ष्मण और उर्मिला शौर्य और सम्पत्ति की भाँति हैं। भरत एवं माण्डवी—कर्त्ता एवं क्रिया की तरह हैं परन्तु शत्रुघ्न एवं श्रुतिकीर्ति किस-किस की भांति हैं, कवि नहीं बतला सके। केवल यह कह कर चुप हो जाना पड़ा कि "शत्रुघ्न की प्रिया श्रुतिकीर्ति 'कीर्ति' सी है, परन्तु शत्रुघ्न की उपमा हम किसी से भी नहीं दे सकते॥ अगर अलङ्कार दोष हो तो भले ही होने दो"॥

अयोध्या वर्णन में "ईति भीति जनु प्रजा दुखारी' का भाव भी लाया गया है परन्तु वह तुकबन्दी भी अत्यन्त नीरस होगई है—यथा

> अलग रहती हैं सदा ही ईतिया
> भटकती हैं शून्य में ही भीतियाँ
> नीतियों के साथ रहती रीतियाँ
> पूर्ण हैं राजा प्रजा की प्रीतियाँ

ईतिया किससे अलग रहती है? भीतियाँ शून्य में किस तरह भटकती होंगी? शून्य का तात्पर्य क्या आकाश से है? 'रीतियाँ' किस विषय की? क्या कायदे और कानून से मतलब है? राजा प्रजा की प्रीति, या प्रीतियां? भाषा का घोड़ा बेलगाम सा तेजी से भागता चला जा रहा है!! श्रद्धेय कवि के काबू का नहीं मालूम होता!! हमारी भी निम्नलिखित तुकबन्दी इसमें मिला लें तो अच्छा हो:—

धन्य हैं साकेत की ये गीतियाँ!
और भाषा-भाव की मनचीतियाँ!!

'साकेत' और 'पलासी का युद्ध'

(१)

श्रद्धेय मैथिलीशरण जी गुप्त ने सर्व प्रथम सरल भाषा में प्रबन्ध काव्यों को लिखनेकी परम्परा चलाई थी। खड़ी बोली के काव्य में, इन प्रबन्ध काव्यों के कारण ही गुप्तजी का एक बहुत ऊँचा स्थान है। प्रत्येक हिन्दी-भाषा-भाषी उनका चिर ऋणी रहेगा। 'रग में भंग', 'जयद्रथवध' और 'विकटभट' में उनकी भाषा अत्यंत सजीव और ओजस्वी है एवं प्रबन्ध-सौष्ठव भी अच्छा है।

उसके अनन्तर श्री नवीनचन्द्र सेन के बंगला के 'पलासी के युद्ध' के पद्यानुवाद मे श्रद्धेय गुप्तजी अत्यन्त सफल हुए। यह अनुवाद एक स्वतंत्र कृति माना जाय तो अतिशयोक्ति का तो किंचित् भी भय नहीं है क्योंकि कवि के भावों की रक्षा करते हुए भी शब्द-चयन स्वयं गुप्तजी की स्वतंत्र शैली का परिचय देता है। 'पलासी के युद्ध' की भाषा इतनी प्राजल और सजीव है कि जितनी बार यह काव्य पढा जाय उतना ही अधिक उसे और पढ़ाने को जी चाहता है।

प्रबन्ध काव्य में छोटे-छोटे वर्णन और पारस्परिक सवाद की भाषा सजीव होनी आवश्यक है। कौशल पूर्वक पारस्परिक संवादों मे भिन्न-भिन्न रूप से प्रत्येक के भाव दिखा कर चरित्र-वैचित्र्य की रक्षा करनी पड़ती है। जैसा व्यक्ति हो उसी के अनुरूप उसके संवाद की भाषा प्रयुक्त करके उसके अनुरूप छंद भी प्रयुक्त करना आवश्यक हो जाता है। और फिर समय के अनुसार एक दूसरे छन्द का ठीक-ठीक सिलसिला भी मिलाना पड़ता है। क्योंकि जब तक सिलसिला नहीं मिलता तब तक महाकाव्य के कवि की कण्ठ लहरी पाठकों के हृदयों के मर्म-स्थान पर पहुँच ही नहीं सकती।

'साकेत' में स्थलों के वर्णन, संवादों की भाषा और प्रबन्ध-सौष्ठव में श्रद्धेय कविवर सफल हुए हैं या असफल? ऐसा प्रश्न है जिसका सही उत्तर तब तक नहीं दिया जा सकता जब तक 'साकेत' के कुछ अंशों की तुलना किसी दूसरे प्रबन्ध-काव्य के अंशों से न की जाय।

हम समझते हैं कि किसी दूसरे कवि के महाकाव्य से 'साकेत' की तुलना उचित नहीं होगी। श्रद्धेय गुप्तजी के 'पलासी के युद्ध' की भाषा से ही 'साकेत' की भाषा की तुलना अधिक समीचीन होगी इस लिये एक दृष्टि 'पलासीके युद्ध' के प्रथम सर्ग पर डालनी अनुचित न होगी।

'पलासी के युद्ध' के प्रथम सर्ग मे नवद्वीप के राजा कृष्णचंद्र आदि जगत सेठ के भवन में बैठकर सिराजुद्दौला को राजच्युत करने का परामर्श करते हैं। इस षड्यंत्र के वर्णन मे कवि ने जो कौशल दिखाया है उसकी जितनी प्रशंसा की जाय कम है। षड्यन्त्रकारियों मे रानी भवानी का मत पूछा जाता है। रानी भवानी का जो मत है उसकी भाषा अत्यत सजीव एवं ओजस्वी है जिससे उनकी दूरंदेशी एवं देशभक्ति का परिचय अपने आप मिल जाता है। यह भाषण इतना सुन्दर है कि यदि स्थान होता तो हम इसे आद्योपांत उद्धृत करते। तो भी कुछ अंश उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते। कवि लिखते हैं :—

> "रानी का मत क्या ?" सुन जाग मानों सोते से
> बोली श्री भवानी रानी वाक्य सुधा सोते से
> "मेरा क्या मत है ? महाराज कृष्णचन्द्र राय,
> सुनने की इच्छा है, सुनो तो यह मेरी राय—
> सबने जो नवाब का चरित्र दिखलाया घोर,
> जानती हूँ मैं कि उससे भी वह है कठोर।
> आप ही मैं अबला हूँ दुबल हृदय है।
> क्या कहूँ परन्तु यह मन्त्र पाप-मय है।

कृष्णनगराधिप के योग्य नहीं क्रान्ति यह
ऐसे षड्यन्त्र की हुई क्यों भला भ्रान्ति यह ?
होगी इस वीरता की यों ही प्रतोद्यापना
दासता के बदले में दासता की स्थापना !
देखो महाराज, सूक्ष्म दृष्टि द्वारा एक बार-
भारत के चारों ओर दूर नहीं दिल्ली द्वार।
मुगल मलीन होते जाते घड़ी पल हैं,
और मराठों से हुए फ्रेंच हीनबल हैं।
क्लाइव के पैर बंग—भूमि यहाँ चूमती
ब्रिटिश पताका फ्रेंच दुर्ग पर झूमती।
नाहर ज्यों लगता है यूथप की घात में
क्लाइव त्यों रत है नवाब के निपात में।
सेनापति संग कहीं उससे मिलें जो आप
होगा तो अमोघ वेग और उसका प्रताप।
बंग में जलेगी वह भीमानल एक संग
भस्म होगा जिससे नवाब जैसे हो पतंग।
साध्य क्या जो सेनापति उसको बुझा सके ?
बुझ न सकेगी आप गंगा भी बुझा थके !!
बंग की क्या बात, सारे भारत में कौन भूप-
रोकेगा ब्रिटिश वेग होगा जोकि झंझा रूप ?

× × × ×

होते हैं दिन दिन यवन हत बल ज्यों
भारत के भाग्य को घुमाता विधि कल त्यों

× × × ×

जानती हूँ यवन् फिरंगियों, के ही समान-
भिन्न जाति वाले हैं तथापि भेद है महान।
सदियों से संग रहने से मुगलों के संग
हो गया है जेता जित रूपी विष भाव भंग।

यवन हमीं मे मिले आज इस भाँति हैं
पीपल मे होते उपवृक्ष जिस भाँति हैं।
राज सेना, राजकोश और राज मन्त्रागार
बोलो, हिन्दुओं का नही आज कहाँ स्वाधिकार ?

रानी भवानी का भाषण और भी बडा है और आदि से अन्त तक अत्यन्त चित्ताकर्षक और हृदयग्राही है। जगत सेठ और राजा कृष्णचन्द्र एव मन्त्री के भाषण भी अपने-अपने रूप मे अत्यन्त प्रभावशाली हैं। राजा कृष्णचन्द्र के भाषण की निम्नलिखित पंक्तियाँ आन्तरिक मर्म भेदी स्वदेश-वात्सल्य-स्रोत के सहसा उमड चलने की परिचायक है। पढते-पढ़ते थक जाइए परन्तु फिर भी पढ़ने की उत्कण्ठा बनी रहती है।

कौन कहे, कौन जाने, पानीपत कै कै बार,
भारत के भाग्य का करेगा और भी विचार !'
नत हैं पठान, गत-प्राय ये मुगल हैं
शृंखलित किन्तु हम आज भी अचल हैं।
सदियाँ गई हैं, किन्तु दैव अब भी है क्रूर
भारत की दासता न जाने कब होगी दूर।
जाता दिन दुःख मे, अनिद्रा में जाती रात
हमको मृदु शय्या भी होती शर-शय्या ज्ञात !!

वृद्ध मंत्रिवर की स्वामि भक्ति का परिचय देने वाली निम्न-लिखित पंक्तियाँ भी ध्यान देने योग्य हैं। वह कहते हैं:—

हाय ! जिस गाय के थनों से किया दुग्ध पान,
कैसे बदले में करूँ उसको विष-प्रदान ?
धर्म आज भी है धर्म, पाप आज भी है पाप
धर्म छोड़ पाप करूँ कैसे ? सोच लीजे आप
नरक समान है कृतघ्न चित्त पापा रूढ
खाता जिस कर से है काटे उसे कौन मूढ ?

करते बने जो नग—शासन स्वबल से
दे सको नवाब को जो दण्ड निजदल से
तो समक्ष युद्ध करो, करते क्यों छल हो?
अन्यथा अधीन रहो जैसे आज कल हो।
मानता हूँ मैं सिराज, पापवृत्ति वाला है
किन्तु युक्ति से क्या व्याघ्र जाता नहीं पाला है?
बसी भूत होता है कराल विषधर भी,
भूलते हैं कैसे फिर आप जान कर भी?

'पलासी के युद्ध' में प्रारम्भ से अन्त तक ऐसा ही सुन्दर भाषा-प्रवाह बहता चला गया है। वास्तव में, यह प्रबन्ध काव्य हिन्दी भाषा का गौरव-ग्रन्थ है। आश्चर्य है कि पाठ्य-पुस्तकों मे इसका कहीं भी नामोनिशान नहीं है!!

'पलासी के युद्ध' की गंभीर एवं मनोहर भाषा देखने के बाद यह आशा स्वाभाविक थी कि 'साकेत' की भाषा और भी अधिक गंभीर एवं मनोहर होगी, कारण, 'पलासी के युद्ध' के लिये कोई प्राचीन अवलम्बन नहीं था। वह ऐसा मार्ग है जिस पर होकर पहिले कोई गया ही नहीं था। इसके मुकाबले में 'साकेत'-मार्ग तो वही अत्यन्त प्राचीन मार्ग था जो अच्छी तरह ठुका, पिटा, पक्का किया हुआ, सदियों से साफ-सुथरा पड़ा हुआ था जिसके ऊपर 'कारवाँ' का 'कारवाँ' आसानी से गुजर चुका था। वाल्मीक, कालिदास, भवभूति तुलसीदास, केशवदास प्रभृति बडे-बडे महारथी उस सड़क को पार करने में कमाल दिखा चुके थे। आश्चर्य इसमें नहीं होता कि ऐसी पुरानी सडक से जाकर कोई व्यक्ति सुगमता से अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया। अवश्य आश्चर्य इसमे होता है कि ऐसे पुराने मार्ग मे भी कोई श्रेष्ठ कवि लडखड़ा सकता है!!

× × ×

रामायण मे राम बनवास के समय के दृश्य से बढ़ कर हृदय-

द्रावक दृश्य और नहीं है। उस समय राम और कौशल्या, कौशल्या और सीता, राम और लक्ष्मण के सम्वाद अत्यन्त महत्व के हैं। बनवास के अनन्तर कैकेयी और भरत के सम्वाद का स्थान अलग है। आर्य धर्मानुसार परमेश्वर एवं देवताओं के माने हुए अवतार—अयोध्या के विशाल राज्य-प्रासाद मे पले हुए इन महान् व्यक्तियों के सम्वाद की भाषा मे अत्यन्त गांभीर्य अपेक्षित था। विशेष कर महान् आपत्ति के समय आशा यह थी कि इन संवादों की भाषा उन संवादों की भाषा से अधिक ओजस्वी, अधिक गति शील एवं अधिक गंभीर होगी जो पलासी युद्ध के पूर्व जगत सेठ के मन्त्रणा-भवन मे बताये गये थे परन्तु हमारे आश्चर्य की सीमा न रही जब 'साकेत' में राम-कौशल्या संवाद का, निम्नांश हमने पढ़ा! वनवास की आज्ञा का समाचार श्रीराम के मुख से कौशल्या माता को सुनाया जाता है। भगवान राम कहते हैं—

माँ मै आज कृतार्थ हुआ
स्वार्थ स्वयं परमार्थ हुआ!
पावन कारक जीवन का
मुझको वास मिला वनका।
जाता हूँ मैं अभी वहाँ
राज्य करेंगे भरत यहाँ!!

कौशल्या सुनते ही कह उठती है:—

बोलीं वे हँस कर "रह तू
यह न हँसी मे भी कह तू
तेरा स्वत्व भरत लेगा
वन में तुझे भेज देगा?
वही भरत जो भ्राता है
क्या तू मुझे डराता है?

लक्ष्मण! यह दादा तेरा
धैर्य देखता है मेरा!
एँ लक्ष्मण तो रोता है
ईश्वर यह क्या होता है?"

पता नहीं कविवर ने यह कौशल्या माता का अल्हड़पन दिखाया है या एक बच्चे का खिलवाड़!!

इससे भी अधिक हास्यास्पद राम-लक्ष्मण संवाद हो गया है। भगवान से कहलवाया जाता है —

"अनुज मार्ग मेरा लेकर
संग अनावश्यक देकर
सोचो अब भी तुम इतना
भग कर रहे हो कितना।
हठ करके प्यारे भाई
करो न मुझको अन्यायी।"

(क्या भंग कर रहे हो? यह बताने की कृपा नहीं की)

श्री लक्ष्मण सुन कर ही कह उठते हैं :—

हाय आर्य रहिये, रहिये
मत कहिये यह मत कहिये
हम सकट को देख डरें
या उसका उपहास करें
पाप रहित सन्ताप जहाँ
आत्मशुद्धि ही आप वहाँ

नीचे के दो चरणों का अर्थ क्या है और कैसे यहाँ संगत हैं, यह तो परमात्मा जाने। परन्तु 'हाय' 'रहिए', 'मत कहिए' 'मत कहिए' अवश्य ही शूरवीर लक्ष्मण के अनुरूप है!!

× × × ×

जितना बचपन लक्ष्मण के भाषण में है उससे कहीं अधिक बचपन सीता जी के भाषण में दिखाया गया है ॥

× × × ×

सीता जी के मुँह से कहलाया गया है कि वन में उन्हें सब सुख मिलेंगे और वह वन में ही प्रभु और देवर लक्ष्मण के साथ चलेंगी, अयोध्या में नहीं रहेंगी। परन्तु भाषा में न तो सीता के अनुरूप गाम्भीर्य है, न सजीवता है और न गतिशीलता। सीताजी कहती हैं :—

"वधुएँ लंघन से डरतीं
तो उपवास नहीं करतीं।
मुक्त गगन है मुक्त पवन,
वन है प्रभु का खुला भवन
सलिल पूर्ण सरिताएँ हैं,
करुण - भाव - भरिताएँ हैं
उटज लताओं से छाया
विटपों की ममता माया
खग मृग भी हिल जावेंगे
सभी मेल मिल जावेंगे
देवर एक धनुर्धारी
होंगे सब सुविधाकारी,
वे दिन—रात साथ देंगे
मेरी रक्षा कर लेंगे
मदकल कोकिल गावेंगे
मेघ मृदंग बजावेंगे
नाचेंगे मयूर मानी
मैं हूँगी वन की रानी !!

सीताजी के उपर्युक्त संवाद में न तो कोई तर्क है, न भावुकता का ही आभास प्रतीत होता है। वन का असंगत वर्णन है। 'लंघन',

'भरिताएँ', 'खग, मृग का बिना कारण हिल जाना'—ऐसी बातें हैं, जिनका समझ मे आना ही कठिन है। और यह विचार कर लेना कि वन में बारहों मास मेघ तो मृदंग बजाते रहेंगे, सीता देवी की बुद्धि का अपमान करना है। रा य प्रासाद में पाली गई, राजर्षि जनक की पुत्री, और महाराजा दशरथ की वधू क्या इतनी नन्हीं भोली-भाली ग्रामीण बालिका होगी जो वन चलते वक्त यह कह कर प्रसन्न होगी कि —

नाचेंगे मयूर मानी
मै हूँगी वन की रान' !

चौदह वर्ष के वनवास को उद्यत देखते हुए क्या समय के अनुसार, परिस्थिति के अनुसार, भावों मे, शब्दो के घुमाव में, एवं शब्द ध्वनि मे गांभीर्य लाना श्रेयस्कर नहीं हो सकता था ?

सीताजी के उपर्युक्त भाषण में प्रभावोत्पादक या हृदय विदारक कोई बात तो नहीं मालूम होती। परन्तु इसका प्रभाव उर्मिला पर सब से अधिक हुआ। वह तो बोल ही नहीं सकी !! भाषण समाप्त होते ही धड़ाम से गिर पड़ी। सीताजी के भाव या भाषा में जादू हो या न हो, मूर्छित कर देने वाली बात हो या न हो, उर्मिला तो 'हाय' कह कर गिर पड़ी। क्योंकि "उर्मिला तो साकेत की अमर सृष्टि है जो लोक के स्मृति पटल पर अनन्त काल तक अंकित रहेगी" !! "साकेत की उर्मिला मे", प्रोफेसर नगेन्द्र के कथनानुसार, 'प्रयत्न कलाकार की तूलिका के चिन्ह दिखाई देते हैं'"!!

शायद इसीलिए उसे मूर्छित कर देना ही उचित समझा गया। परन्तु यह दृश्य भी देखने योग्य है। उर्मिला 'निरी मुग्ध' थी। इसीलिए कवि कहते है :—

सीता और न बोल सकीं
गद्गद् कण्ठ न खोल सकीं

इधर उर्मिला मुग्ध निरी
कह कर 'हाय' धड़ाम गिरी ! '
लक्ष्मण ने दृग मूँद लिए
सब ने दो-दो बूँद दिए

(किस वस्तु के दो-दो बूँद दिए ? नहीं बतलाया गया)

कौशल्या माता का अल्हड़पन फिर भी पूर्वानुसार चला जाता है !! कविवर आगे लिखते हैं :—

उस मूर्छित बधू का सिर
गोदी में रक्खे अस्थिर
कौशिल्या माता भोली
धाड़ मार कर यों बोली
"देव-वृन्द ! देखो नीचे
मत मारो आँखें मींचे
जाओ, वत्स ! कहा मैंने
जो आ पड़ा सहा मैंने ।"

पढ़ते पढ़ते मस्तिष्क थक जाता है यह पता नहीं चलता कि किसी साहित्य के महाकाव्य का सवाद पढ रहे हैं या किसी दूरस्थ ग्राम में ग्रामीणों का अनर्गल सवाद ! "धाड़ मार कर बोली" "आँखें मींचे मत मारो"—यह भाषा राज-प्रासाद मे बैठी कौशल्या माता के अनुरूप अवश्य कही जा सकती है !! और धाड़ मार कर बोलने की आवश्यकता ही क्या थी ? शायद साधारण बोली मे देव वृन्द को नहीं सुनाई देता !

(२)

प्रबन्ध काव्य के लिए कथा के मार्मिक स्थलों की पहिचान आवश्यक है। राम-वनवास के अनन्तर भरत का अयोध्या में

वापिस आना, रामायण मे एक अत्यन्त मार्मिक स्थल है। गोस्वामीजी ने ऐसे ही प्रसगों का बड़ी सावधानी से वर्णन करके अपने रचना कौशल और प्रबन्ध पटुता का परिचय दिया है। सूनी और उदास अयोध्या को देखकर भरत शत्रुघ्न का दिल धडकने लगता है और महाराज दशरथ के देहावसान और राम वनवास के सहसा समाचार सुन कर दिल मे ऐसा धक्का बैठता है कि उसका वेग उन्हे सँभालना कठिन हो जाता है। जब भरत को यह पता चलता है कि इस सारे अनर्थ के एक मात्र कारण वह स्वय ही है तो उनका हृदय आत्म ग्लानि से और भी भर जाता है।

इस समय की, भरत की दशा का वर्णन करना कोई सुगम कार्य नहीं है और इस अवस्था के वर्णन करने मे यदि 'साकेत' के कवि ने वाल्मीकीय रामायण से सहायता ली तो भी कोई अनुचित बात नहीं थी। आदि कवि ने लिखा है कि "धार्मिक कुलीन पवित्र, भरत यह वचन सुन कर पिता के शोक से पीडित होकर सहसा भूमि पर गिर पडे। "हा हतोऽस्मि" ऐसे दुखी और दीन वचन कहते हुए महाबाहु बलवन् भरत बाहु पटक कर जमीन पर गिर पडे। पिता की मृत्यु से दुखित ऐसे महा-तेजस्वी भरत विलाप करने लगे। उनकी चेतना भ्रान्त और व्याकुल हो गई थी।"

रामायण के श्लोक ये हैं—

> हा हतोऽस्मीति कृपण दीना वाचमुदीरयन्।
> निपपात महा बाहुर्बाहू विक्षिप्य वीर्यवान्॥
> ततः शोकेन सवीतः पितुर्मरण दुखित।
> विललाप महातेजा भ्रान्ताकुलित चेतन॥

यदि इन श्लोकों का ही पद्यानुवाद साकेत में रख दिया जाता तो भी प्रसगानुकूल भाषा बनी रहती॥ परन्तु 'साकेत' के श्रद्धेय कवि को प्रतीत यह हुआ कि जिस प्रकार सीता ही सीता रामायण मे दिखाई गई है, उर्मिला छोड दी गई है, उसी प्रकार यहाँ भी

आदि कवि ने भरत की ही बात करके शत्रुघ्न को कोरा ही छोड़ दिया ! इसी कमी को पूरी करने के लिये बाल्मीकीय रामायण के उपर्युक्त भाव को लेकर 'साकेत' के श्रद्धेय कवि ने लिखा'—

'हा हतोऽस्मि' ! हुए भरत हतबोध
"हूँ" कहा शत्रुघ्न ने सक्रोध
ओठ काटा और पटका पैर
किन्तु लेता वीर किससे बैर ?

यदि आदि कवि ने भरत को बाँह इधर उधर पटकते दिखाया तो साकेत के कवि ने शत्रुघ्न को पैर पटकते ही दिखाना उचित समझा !! कुछ मौलिकता तो होनी ही चाहिये ! 'साकेत' के उपर्युक्त छन्द पढने पर सहसा यह बोध होता है कि साधु भरत संस्कृत भाषा पढ़े हुए थे इस लिये उन्होंने "हा हतोऽस्मि" तो कह डाला ! बेचारे शत्रुघ्न संस्कृत भाषा से ही अनभिज्ञ थे, कुछ कह ही नहीं सके। "हूँ" कहकर, ओठ काट, पैर पटक कर वहीं ठस से रह गये !! संस्कृत पढने का कष्ट स्वयं नहीं उठा सके, तो बेचारे इसके लिये बैर किससे लेते !!

\+ + +

अब भरत-कैकेयी सम्वाद की भाषा का साकेत में एक विशेष स्थान है। कवि लिखता है '—

कैकेयी चिल्ला उठी सोन्माद
सब करें मेरा महा अपवाद
किन्तु उठ ओ भरत, मेरा प्यार
चाहता है एक तेरा प्यार,
राज्य कर, उठ वत्स मेरे बाल,
मैं नरक भोगूँ भले चिरकाल
दण्ड दे, मैंने किया यदि पाप,
दे रही हूँ शक्ति वह मैं आप।

('शक्ति' क्या ? शायद 'अधिकार' से तात्पर्य है !
भरत का उत्तर भी ध्यान देने योग्य है ।)

"दण्ड, ओहो दण्ड, कैसा दण्ड ?
पर कहाँ उद्दण्ड ऐसा दण्ड ?
घोर नरकानल चिरन्तन चण्ड
किन्तु वह तो है यहाँ हिमखण्ड !
चण्डि ! सुनकर ही जिसे सातंक
चुभ उठें सौ बिच्छुओं के डंक,
दण्ड क्या उस दुष्टता का स्वल्प
है तुषानल तो कमल दल तल्प

श्रद्धेय कविवर का आशय तो यही है कि भरत अपनी माता से कहते हैं कि हे 'चण्डि ! तुमने वह दुष्ट कार्य किया है कि जिसके लिये कैसा ही कठोर दण्ड भी कम ही प्रतीत होगा। "नरकानल का चिरन्तन चण्ड या आतंक के साथ सौ बिच्छुओं क डंक" या, 'तुषानल' यह दण्ड तुम्हारे लिये अपर्याप्त ही प्रतीत होते है" ।

आशय तो यही है परन्तु कवि की भाषा भावों को व्यक्त नहीं कर रही है। नरकानल का अति प्राचीन ताप किस प्रकार हिमखण्ड बन जायगा ? यह समझ मे नहीं आता ! और न यह समझ मे आता है कि 'तुषानल' (भूसी, फूस या घास की आग) किस प्रकार कमल दल की सेज (तल्प) बन जायगी ? प्रत्यक्ष है कि शब्द-'हिमखण्ड' एवं 'तल्प' केवल पादपूर्ति के लिये लाये गए है और कविवर ने इस पर ध्यान ही नहीं दिया कि कहीं अर्थ का अनर्थ तो नहीं हो रहा है।

इस सम्वाद की भाषा पढ़ कर एक सज्जन ने लिखाः—

देख भाषा चण्ड औ उद्दण्ड
देख अर्थ अनर्थ अति बरिवंड

'हा हतोऽस्मि', विलोक "हूँ" सक्रोध
कहें आलोचक हुए हतबोध !"
"क्या यही है पाठकों को दण्ड ?
या यही साकेत का हिमखण्ड ?
सुप्त हो, जिस पर, समझकर तल्प
कर रहा नवकाव्य कायाकल्प !!"

(३)

प्राचीन महाकाव्यों मे रूप-वर्णन की परिपाटी पाई जाती है। सीताराम और राधाकृष्ण के रूप वर्णन मे ही सैकड़ों सुन्दर सरस छन्द लिखे गए है। गोस्वामीजी ने तो सीता और राम के रूप वर्णन में बडी अच्छी काव्य कुशलता का परिचय दिया है। उनकी-सी व्यवस्थित भाषा तो दूसरे कवि मे मिलना ही कठिन है। साथ-साथ अलंकार योजना भी देखकर मुग्ध हो जाना पडता है।

'पलासी के युद्ध' में रूप-वर्णन की गुंजायश कम थी। परन्तु कवि ने बड़े कौशल से ब्रिटिश राज्य-लक्ष्मी को वहाँ लाकर उसका रूप वर्णन करके प्राचीन परिपाटी निभाई है। क्लाइव का चित्त युद्ध के फल की आशंका से अशान्त हो रहा है। उस समय ब्रिटिश राज्य-लक्ष्मी आकाश से उतर कर उसे सान्त्वना देने आती है। इस रूप वर्णन की भाषा भी सुगठित और व्यवस्थित है। कवि ने लिखा है —

फैला शत शत सूर्य
तेज-सा नभमडल में,
उतरी एक प्रकाश—
राशि सी पृथ्वी तल में,
क्लाइव मन में विविध
भाव विस्मय के जागे,

देखी ज्योतिर्मयी एक
रमणी - मणि आगे!
युवती की तनुकांति
शुभ्र थी, नील नयन थे
अरुण अधर स्वर्गीय
रागमय अमृत अयन थे

+ + +

ब्रिटिश - सुन्दरी - सदृश
वेश - भूषा - सज्जित थी
किन्तु सर्वथा दिव्य
दीप्ति में विनिमज्जित थी
अर्ध अनावृत पीन—
पयोधर युग्म पूर्ण था
गलता था हिम हृदय
देखके, स्फटिक चूर्ण था

दिखा रहा था वह
सुविमल युवती का अन्तर,
चिर प्रसन्नता पूर्ण
प्रीति पाथोधि निरन्तर
बदन - चन्द्र की अरे!
कहाँ से दूँ मैं उपमा
देता, यदि देखता स्वर्ग
शारद - शशि सुषमा!

विश्व - मोहिनी - छटा,
वसन्त - श्री - विहारिणी
कमल-नेत्र, पिक-कंठ,
मलय निश्वास धारिणी

शत - शत सरयक
'कोहनूर' की प्रभा पाटकर
चमक रहा था दिव्य
रत्न उन्नत ललाट पर।

अत्यन्त सशक्त, सुगठित, स्वच्छ भाषा और सुन्दर शब्द योजना का यह एक उत्कृष्ट उदाहरण है।

इसको पढ़ने के बाद साकेत के सीता रूप वर्णन को पढ़ते हैं तो भाषा शैथिल्य पर अकस्मात दृष्टि जाती है। कविवर का निम्न लिखित ध्यान देने योग्य है:—

मूर्त्तिमती ममता माया,
कौशल्या कोमल काया।
थीं अतिशय आनन्द युता,
पास खड़ी थीं जनकसुता।
गोट जड़ाऊँ घूँघट की
बिजली जलदोपम पट की
परिधि बनी थी विधु मुख की
सीमा थी सुषमा सुख की
भाव सुरभि का सदन अहा!
अमल कमल का बदन अहा!
अधर छबीले छदन अहा!
कुन्द कली से रदन अहा!
साँप खिलाती थीं अलकें
मधुप पालती थीं पलकें
और कपोलों की झलकें
उठती थीं छबिकी छलकें
गोल गोल गोरी बाँहें
दो आँखों की दो राहें

पढ़ने पर प्रतीत होता है कि उत्सुकता से कोई छोटा बच्चा बार बार घूँघट उठा उठाकर सीता देवी का चेहरा देख देख कहता जा रहा है कि "अहो! यह तो भाव-सुरभि का सदन भी है"। अहो! "यह तो कमल सा चेहरा भी है।" "अहा! इनके ओठ भी छवीले हैं।" "अहा! इनके दाँत भी कुन्द कली से हैं।" अरे देखो तो इनकी अलकें साँप भी खिलाती हैं और पलकें (?) भौंरों को भी पालती है।" "इनकी बाहें गोल सुडोल गोरी है और दोनों आँखें भी अलग-अलग दो राहों पर चल रही हैं!! 'एक उत्तर की तरफ देख रही है' दूसरी दक्षिण की तरफ!!

न जाने कितना बाँकापन, तिरछापन या टेढ़ापन होगा!

सीता का ही नहीं भगवान् राम की भी "कनौखी और "अनौखी अँखियों" का वर्णन है यथा:—

तनिक कनौखी अँखियों से
अजब अनौखी अँखियों स
प्रभु ने उधर दृष्टि डाली
दीख पड़ीं दृढ हृदयाली

उर्मिला के रूप वर्णन की अजीब भाषा भी ध्यान देने योग्य है। कहते है:—

जल से तट है सटा पड़ा
तट के ऊपर अटा खड़ा
खिड़की पर उर्मिला खड़ी
मुँह छोटा आँखियाँ बड़ी बड़ी!
तब बोल उठी वियोगिनी
जिसके सम्मुख तुच्छ योगिनी!
"तम फूट पड़ा, नहीं अटा
यह ब्रह्माण्ड फटा फटा हटा!!

जैसा उर्मिला का रूप वर्णन किया है वैसा ही उर्मिला का भाषण भी है !! भाषा-सौष्ठव फटा फटा-सा हो रहा है !!

और महाराज दशरथ के देहावसान के समय कौशल्या और सुमित्रा तो बिल्कुल "हथिनियाँ" बतायी गई है !! शोकाकुल महाराज दशरथ की अवस्था का वर्णन करते लिखते हैं:—

> गजराज पंक मे धँसा हुआ
> छटपट करता था फँसा हुआ
> हथिनियाँ पास चिल्लाती थी
> वे विवश बिकल बिल्लाती थीं

यहाँ "उपमा" हाथ जोडकर शायद 'चिंघाड़' रही है !! न जाने रानियों को कौन सी चक्की का पिसा आटा मिलता था जो इतनी अधिक मोटी हो हो कर हथिनियाँ बन गईं थीं।

(४)

दृश्यों की स्थानगत विशेषता 'साकेत' और 'पलासी के युद्ध' दोनों मे ही अच्छी है। प्राकृत दृश्यों का भी वर्णन दोनों में ही रोचक रहा है।

'पलासी के युद्ध' में गंगा नदी का निम्न-लिखित वर्णन कितना रोचक है!

> हेमघनों से घटित गगन हँसता है ऊपर
> क्रीड़ापूर्वक नाच रही है गंगा भू पर
> कल तरंगिणी चूम रही है मन्द पवन को
> तरल कनकसा सलिल मोह लेता है मन को
> शोभित दिनमणि एक प्रतीची के अंचल में
> सौ सौ दिनमणि झलक रहे हैं गंगाजल में
> \+ \+ \+

वह शोभा का दृश्य दूर से क्या कहना है
जवाकुसुम का हार जन्हुजा ने पहना है

'साकेत' में भी गंगा का अच्छा वर्णन है —
यथा—

गोरस धारा सदृश गोमती पार कर
पहुँचे गंगा तीर धीर धृति धार कर
यह थी एक विशाल मोतियों की लड़ी
स्वर्ग कण्ठ से छूट, धरा पर गिर पड़ी
सह न सकी भवताप, अचानक गल गई
हिम होकर भी द्रवित रही कल जल मई

नीचे के दो चरणों को और 'धीर धृति को' छोड़ कर भाषा काफी रोचक है। यहाँ तक ठीक ही था। किन्तु निषाद फौरन ही आ जाते हैं और भगवान राम उनसे मिलने को उठते हैं तो निषाद के मुँह से कहलवाया जाता है कि "आप बैठे ही रहिये उठिए नहीं"। यहाँ भाषा निराली है, यथा—

"रहिए रहिए उचित नहीं उत्थान यह
देते हैं श्रीमान किसे बहु मान यह"

यहाँ शब्द 'उत्थान' ने रोचकता रोक कर सहसा भाषा का 'पतन' दिखा दिया है॥ जिस प्रकार अभी हाल में महायुद्ध में किसी राष्ट्र का उत्थान और दूसरे का 'पतन हुआ, उसी प्रकार यहाँ भी 'राम का उत्थान' और भाषा का पतन' एक साथ दिखाई पड़ता है॥ साकेत में भाषा जहाँ रोचक होती है वहीं कुछ न कुछ भद्दे प्रयोग आ जाते हैं॥

(५)

ऊपर के कुछ अवतरणों से यह स्पष्ट है कि जहाँ "पलासी के युद्ध" की भाषा अत्यन्त व्यवस्थित एवं सुगठित है—'साकेत' के

कई महत्वपूर्ण सर्गों की भाषा अत्यन्त शिथिल एवं कृत्रिम बन गई है। प्रथम सर्ग में ही 'पलासी के युद्ध' में ग्रन्थ के महत्व एव उसकी शक्तिशाली भाषा का आभास मिल जाता है। परन्तु 'साकेत' के पाँचवें सर्ग के पहिले रोचकता का आभास नहीं मिल पाता। पाँचवें, एव आठवें सर्ग की भाषा में पहले पहल सजीवता मिल पाती है। नवम सर्ग की शैली ही दूसरी है। इसमें कई शैलियाँ भी मिल जाती हैं। 'साकेत' के कुछ अत्यन्त सरस एवं मधुर गीत एवं मधुर पद इस सर्ग में मिल जाते हैं। साथ साथ कुछ शुष्क एवं अत्यन्त नीरस पद भी यत्र तत्र इस सर्ग की शोभा बिगाड़ रहे हैं। दशम सर्ग का छन्द ही अनुपयुक्त चुना गया है। यह अज-विलाप का प्रसिद्ध 'वियोगिनी' छन्द है जो गुप्तजी की शैली के उपयुक्त हो नहीं सकता। एकादश में 'वीर' छन्द एवं द्वादश में 'रौला' का प्राधान्य है और 'गीतिका' तथा 'हरिगीतिका' के सिद्ध-हस्त गुप्तजी सब से अधिक सफल इन्हीं दोनों सर्गों में रहे हैं। 'साकेत' में पचम, अष्टम नवम, एकादश एवं द्वादश सर्ग की भाषा सबल है, रोचक भी है। परन्तु इन पाँच सर्गों के बाहर रोचकता या सजीवता के दर्शन दुर्लभ हैं।

प्रत्येक कवि की अपनी निर्जी शैली होती है जिसके लिए विशेष छन्द ही उपयुक्त हुआ करते हैं। बिहारी का 'दोहा', रहीम का 'बरवै', तुलसी की 'चौपाई', देव के कवित्त और रसखान के सवैये प्रत्येक कवि सफलता से प्रयोग मे नहीं ला सकते। श्रद्धेय गुप्तजी की शैली के लिए एक बड़े छन्द की आवश्यकता हुआ करती है, और हिन्दी-साहित्य का यह दुर्भाग्य था कि 'साकेत' का प्रारम्भ एक अत्यन्त छोटे छन्द "पीयूष वर्णन" से किया गया।

बताया जाता है कि लक्ष्मण-उर्मिला के प्रणय-परिहास से ग्रन्थारम्भ करना था, इसीलिए 'पीयूष वर्णन' छन्द चुना गया था। संभव है यह सही हो, परन्तु श्रद्धेयक विवर में वह भावुकता नहीं है—जो प्रणय परिहास में सहायता दे सकती। शिष्ट-मर्यादा की

ओर लक्ष्य रखते हुये शृङ्गार रस का व्यञ्जक वर्णन करना, उनकी शैली को दृष्टि मे रख कर, कठिन ही प्रतीत होता है। इसीलिए 'पीयूष वर्णन' छन्द के द्वारा प्रणय-परिहास वर्णन मे भी वे सफल नहीं हो पाये।

लक्ष्मण जिस परिहास को प्रारम्भ करते है उसमें न तो वास्तविक प्रणय का ही आभास मिलता है ओर न परिहास ही मिल पाता है। उर्मिला के बनाये चित्र को देख कर लक्ष्मण से कहलवाया गया है —

> मंजरी सी, अंगुलियो मे यह कला
> देख कर मै क्यों न सुध भूलूँ भला ?
> क्यों न अब मै मत्त गज सा झूम लूँ ?
> कर कमल लाओ तुम्हारा चूम लूँ।

अत्यन्त आश्चर्य प्रकट करना एक बात है और कला देखकर सुध-बुध भूल जाना दूसरी बात है। जहाँ आत्म-विस्मृति हो गई वहाँ यह कहना कि मैं आत्मविस्मृत हूँ असगत एवं असंभव है। आत्म-विस्मृत होकर हाथी की तरह झूम लेना अस्वाभाविक है, और मस्त हाथी की तरह झूमते रह कर कर कमल का चूमना और भी असगत है। तन्मयता का अभाव एवं बाहरी टीप-टाप, छन्द की भाषा से अलग दिखाई पडते है।

इस छद के अनन्तर भी न प्रणय है, न परिहास है, न हाजिर जवाबी ही। लिखते है —

> हँस पड़े सौमित्र भावों से भरे
> उर्मिला का वाक्य था केवल "अरे"
> "रङ्ग घट में ही गया, देखो, रहो
> तुम चिबुक धरने चली थीं क्यों न हो ?
> उर्मिला भी कुछ लजाकर हँस पड़ी
> वह हँसी थी मोतियों की सी लड़ी।"

उर्मिला जब चित्र बनाते बनाते 'चिबुक' रचना कर रही थी, लेखनी से (या तूलिका से) पीत रंग घट में सहसा गिर गया। लक्ष्मण देखकर हँस पडे और उर्मिला के मुँह से सहसा एक वाक्य निकल पड़ा। प्रणय-परिहास पूरा करने के लिए इसी छंद के बाद लिखा गया —

"बन पड़ी है आज तो!" उसने कहा
क्या करूँ वश मे न मेरा मन रहा
हार कर तुम क्या मुझे देते कहो?
मै वही हूँ किन्तु कुछ का कुछ न हो
हाथ लक्ष्मण ने तुरन्त बढ़ा दिये
और बोले, "एक परिरम्भन प्रिये
सिमिटसी सहसा गई 'प्रिय की प्रिया'
एक तीक्ष्ण अपांग ही उसने दिया
किन्तु घाते मे उसे प्रिय ने किया
आपही फिर प्राप्य अपना ले लिया!"

यह सब महान् व्यक्ति का चरित्र चित्रण स्वाभाविक ही प्रतीत होता है!! 'सिमिट कर सहसा अपांग देना' अवश्य ही "माडर्न एक्टिंग" है!! कुछ का कुछ न हो' 'प्रिय की प्रिया' घाते मे लिया' भाषा में माधुर्य की प्रचुरता के उदाहरण है!! और अच्छी बात तो कविवर ने यह बताई कि "आप ही अपना प्राप्य ले लिया", कहीं अपना प्राप्य दूसरे के मारफत लेते तो खटाई में पड़ गये होते!

खैर, चतुर्थ सर्ग का छंद और भी छोटा है। चौदह मात्रा का मानव [या हाकलि] छंद न तो श्रद्धेय गुप्तजी की शैली के उपयुक्त था और न गार्हस्थ्य चित्रों के अंकन के योग्य ही था। इस छंद में लिखे हुए ये चरण:—

"प्रभु की वाणी कट न सकी
युक्ति एक भी अट न सकी"

भापा दोषों के प्रसिद्ध उदाहरण बन चुके है। "वाणी का कटना" और "युक्ति का अटना" कैसा होता है ? एक सज्जन ने छंदके इन चरणों को देख कर लिखा.—

"भापा भी कट छट न सकी
दौड़ धूप में डट न सकी
भावों में वह सट न सकी
राम नाम भी रट न सकी ॥"

चतुथ सर्ग में न जाने कितने भापा दोष भरे है। भाषा शैथिल्य एवं ग्राम्य-दोष से दूषित पंक्तियो ने 'साकेत' का मूल्य बहुत कम कर दिया है। हम यह नहीं कहते कि 'साकेत' मे गुण नहीं है। श्रद्धेय गुप्तजी प्रतिभा-सम्पन्न कवि है। वर्णन करने मे भी वे अत्यन्त क्षमताशाली है। 'पलासी के युद्ध' एवं 'साकेत' में दोनों मे कहीं-कही अत्यन्त ललित पदावली मिलती है। कहीं-कहीं दोनो में हृदय-हारिणी भापा एवं सरस कविता बही है परन्तु जहाँ 'पलासी के युद्ध' में ओजस्विनी कविता के मोह-मन्त्र से मुग्ध होकर भाषा—दोष देखने का अवकाश ही नहीं रहता, वहाँ, साकेत के अत्यन्त छोटे छंदों की मन्थर गति के नीरस वातावरण में भापा-दोषों के साथ-साथ प्रबन्धात्मक शैली का अभाव भी बुरी तरह से खटकता है। यदि 'साकेत' के प्रथम सग का छंद भी वही रहता जो 'पलासी के युद्ध' के प्रथम सर्ग का छन्द है तो वह श्रद्धेय गुप्तजी की शैली के अनुरूप होता और 'साकेत' एक सुन्दर रूप मे हा आता। 'साकेत' के प्रथम चार सर्ग यदि फिर से लिखे जायँ तो अवश्य ही, 'साकेत' एक अमर रचना बन जायगी।

श्री हरिऔधजी का प्रिय-प्रवास

(१)

वर्णिक वृत्तों में संस्कृतमय भाषा का होना अनिवार्य है। वर्णिक वृत्तों एवं संस्कृतमय भाषा मे पद लालित्य अपने आप आ जाता है। इसलिए "प्रियप्रवास" का अधिकांश भाग कोमलता और अतिमधुरता से भरा पडा है। श्री धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी जी का यह कहना सही नहीं है कि 'प्रिय-प्रवास" में संस्कृत के वर्णिक वृत्त अपनी राह से भटक गये है और अरण्य-रोदन कर रहे है।

फिर भी कहीं-कहीं यह अवश्य प्रतीत होता है कि कुछ हिन्दी के शब्द "प्रिय-प्रवास" के वर्णिक वृत्तों मे कृत्रिमता की झलक दिखाकर भूल भुलैयों मे भटकते रहे है।

एक स्थान पर लिखा है:—

> सबलराम सबालक मंडली
> विहरते बहु मंदिर में रहे
> विचरते हरि थे अकले कभी
> रुचिर वस्त्र विभूषण से सजे।

यहाँ अर्थ तो यह है कि कृष्ण भगवान अपने भाई बलराम और बालक मंडली के साथ कई स्थानों मे विहार कर रहे थे।

परन्तु पढ़ने पर प्रतीत यह होता है कि श्रद्धेय कविवर बतला रहे है कि एक 'सबल-राम' थे जो बालक मंडली के साथ कई स्थानों में विहार करते रहते थे, किन्तु इनको छोड़ कर हरि कभी-कभी अकेले भी विचर जाते थे, क्योंकि, भगवान अच्छे वस्त्र और आभूषणों से सजे थे जो शायद 'सबल राम' के पास नहीं थे।

वास्तव में यहाँ "स" की मिट्टी खराब हुई है। वर्णवृत्त छन्दों मे लघु गुरु नियम पालन करने के लिए 'स' को बराबर लाना अनिवार्य रहा होगा। इसीलिए "प्रिय-प्रवास" में मौके बे मौके 'स' की भरमार दिखाई पडती है। एक अन्य स्थान पर लिखा है -

सलिल प्लावन से अन थे नचे
लघु बड़े, बहु उन्नत पथ जो
सब उन्हीं पर हो स-सतर्कता
गगन थे करते गिरि अक मे

यहाँ पर 'सतर्क' लिखने के स्थान में "स-सतर्कता" शब्द लाया गया, जो अनावश्यक ही नहीं अशुद्ध भी है।

इसी प्रकार दूसरे स्थान पर लिखा है :—

इसी घड़ी निश्चित श्याम ने किया
सशकता त्याग अशक चित्त से।

"शंका" त्याग करके ही 'निश्चित' किया जाता है। शंकित चित्त से कैसे निश्चित हो सकता है? 'निश्चित' शब्द में ही "शका का त्याग" और "अशक चित्त' का भाव निहित है।

वर्णवृत्त छन्दों मे लघु गुरु के नियम बहुत ही कठिन हैं। "प्रिय-प्रवास" में इन नियमो का पालन बडी खूबी से अधिकाश मे किया गया है। इतने बडे ग्रन्थ मे इस पर भी यदि कहीं-कहीं शब्द तोड़े मरोडे गये हों तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये। एक स्थान मे "सेवा" को "सेवना" करना पडा तो दूसरी जगह 'चिन्ता' को 'चिन्तना' भी करना पड़ा।

जो वे हाती परम व्यथिता
मूर्च्छिता या विपन्ना
तो वे आठों पहर उनकी
सेवना मे विताती

'सेवा 'संज्ञा है, 'सेवना' क्रिया अकर्मक है। दोनों में भेद है। इसी प्रकार—

कैसे भला स्वहित कर चिन्तनाएँ
कोई मुकुन्द हित और न दृष्टि देगा

'चिन्ता' में फिक्र और खटके के साथ सोच विचार का भाव होता है। 'चिन्तना' में चिन्तन करना, ध्यान करना और अभ्यास करने का भाव निहित है। दोनों मे भेद है। चिन्तना मे फिक्र नहीं होती।

इसी प्रकार 'अकेले' को 'अकले' और 'इकट्ठे' को 'इकठे' करना पड़ा। यथा—

मेरी बातें श्रवण करके
आप जो पूछ बैठे
कैसे प्यारे कुँअर अकले
व्याहते सैकड़ों को

× × ×

सब पड़ोस कही समवेत था
सदन के सब थे इकठे कहीं

वर्णवृत्त छन्दों में बहुत से शब्द कही भी प्रयुक्त ही नहीं हो सकते। इसीलिए "प्रिय-प्रवास" मे "अस्त व्यस्त" का बहिष्कार किया जाना प्रतीत होता है। इसके स्थान में 'शश व्यस्त' या 'व्यस्त समस्त' प्रयुक्त किया गया है जिसके कारण कही-कहीं छन्द ही अस्त व्यस्त हो गया है। यथा—

मुकुन्द की शान्ति हुई विदूरता
समडली वे शश व्यस्त हो गए

और भी—

अपार कोलाहल ग्राम में मचा
विषाद फैला ब्रज सद्म-सद्म में
ब्रजेश हो व्यस्त समस्त दौड़ते
खड़े हुए आकर उक्त कुंड पे

ऐसा ही आगे लिखा है—

हुए कई मूर्छित घोर त्रास से
कई भगे, भूतल में गिरे कई,
हुई यशोदा अति ही प्रकम्पिता
ब्रजेश भी व्यस्त समस्त हो गए

× × ×

तदपि था पड़ता जल पूर्व सा
इसलिए अति व्याकुलता बढ़ी
विपुल लोक गए ब्रज भूप के
निकट व्यस्त समस्त अधीर हो

ऊपर के उदाहरण केवल इस बात के हैं कि वर्णवृत छन्दों में कई शब्द ठीक ठीक नहीं बैठाले जा सकते। जो दूसरे शब्द लाए गए उन्होंने भाव ही बदल दिए। परन्तु कई शब्द अत्यन्त सुगम होते हुए भी ठीक ठीक प्रयुक्त नहीं हो पाए हैं।

पंचम सर्ग का एक मन्दाक्रान्ता छन्द देखिए, लिखते हैं :—

रोता-धोता, विकल बनता,
एक आभीर बूढ़ा,
दीनों के से वचन कहता,
पास अक्रूर के आ।
बोला कोई जतन जन को
आप ऐसा बतावें,

मेरे प्यारे कुवर मुझसे
आज न्यारे न होवें ॥

"बनता" ध्यान देने योग्य है। शब्द अत्यंत सुगम है। कोई दाँव पेच का शब्द नहीं है। परन्तु फिर भी ठीक ठीक प्रयुक्त नहीं हुआ। ऐसा मालूम होता है कि बूढा आभीर स्वत: दुखमग्न नहीं था, केवल दूसरों को दिखाने के लिए उसे "बिकल" बनना पड़ा।

"बनता" शब्द ने तन्मयता कम करके बुरी कृत्रिमता का बुरा प्रदर्शन किया है। हमारी राय में जहाँ-जहाँ 'बनता' 'शब्द' 'प्रिय-प्रवास', मे आया है वही कृत्रिमता ने काव्य का आनन्द समाप्त कर दिया है।

चतुर्थ सर्ग का एक शार्दूल विक्रीडित छन्द है · —

नयन से बरसाकर वारि को
बन गई पहले बहु बावली
निज सखी ललिता मुख देख के
दुख कथा फिर यों कहने लगी

पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि राधा को किंचित भी दुख नहीं था। परन्तु अपनी सखी ललिता का मुख देखकर वे नाहक बावली बन गईं। आँखों में आँसू भी नहीं आ रहे थे परन्तु ललिता का दुख देखकर, केवल शिष्टाचार के नाते, जबरदस्ती उन्हें आँसू बहाने पड़े॥ आँसू बहाकर, उन्होंने बहुत बड़ी बावली का स्वांग दिखाया और फिर दुःख कथा कहने लगीं।

एकादश सर्ग का एक वंशस्थ छन्द है :—

कालिन्दजा की कमनीय धार जो
प्रवाहिता है भवदीय सामने
उसे बनाता पहिले विषाक्त था
विनाशकारी विष कालिनाग का

'भवदीय सामने', में कुछ विचित्र प्रयोग तो है ही, परन्तु यह समझ में नहीं आता कि यह लिखने का तात्पर्य क्या है कि कालिनाग का विष पहिले धार को विपाक्त बनाता था। यह कहीं भी लिखने की कृपा नहीं की कि बाद में क्या होता था।

अब प्रथम सर्ग के एक द्रुतविलंबित छन्द मे "बनी हुई" और बनती की बानगी देखिए :—

> विविध भाव विमुग्ध बनी हुई
> मुदित थी बहु दर्शक मण्डली।
> अति मनोहर थी बनती कभी
> बज किसी कटि की कल किंकणी॥

अर्थ यह होता है कि दर्शक मंडली बहुत प्रसन्न थी क्योंकि वह नाना भावों से विमुग्ध बनी हुई थी। अनावश्यक होते हुए भी "बनी" शब्द लाया गया है। और कभी कभी किसी की कमर से करधनी बज कर अति मनोहर "बनती" थी। शायद जबरदस्ती बजाई जा रही थी। एक दूसरा छन्द देखिए। लिखते हैं :—

> घड़े लिए कामिनियाँ, कुमारियाँ
> अनेक कूपों पर थीं सुशोभिता।
> पधारती जो जल ले स्वगेह थीं
> बजा बजा के निज नूपुरादि को॥

ऐसा प्रतीत होता है कि कामिनियों, कुमारियों के चलने में नूपुर आदि के बजने की आवाज अपने आप नहीं आती थी, लेकिन वे सब जान बूझकर अपने नूपुर आदि को बजा रही थीं।

एक और छन्द है :—

> तजा किसी ने जल से भरा घड़ा
> उसे किसी ने सिर से गिरा दिया

अनेक दौड़ीं सुधि गात की गवा
सरोज सा सुन्दर श्याम देखने

कवि का तात्पर्य तो यह है कि श्याम के आने की खबर सुनते ही सारी गोपियाँ सुधि बुधि भूलकर उन्हें देखने को दौड़ीं और उस एकाएक दौड़ने में किसी के सिर से घड़ा भी गिर गया। मगर छन्द में तन्मयता का आभास नहीं आ पाया। शब्दों में कृत्रिमता की झलक है। दूसरी पंक्ति पढ़ने से ज्ञात होता है कि किसी गोपी ने जानबूझकर अपने सिर से घड़ा गिरा दिया।

काव्य को कृत्रिम दिखाने के ये प्रयोग बचाए जा सकते थे परन्तु श्रद्धेय कविवर का ध्यान इधर किंचित भी नहीं गया।

(२)

'पल्लव' मे 'छाया' के लिए पं० सुमित्रानन्दन पन्त ने लिखा था :—

कौन कौन तुम पर हित वसना
मलिन मना भू पतिता सी

"भू पतिता" शब्द पर कई समालोचकों ने शका प्रकट की थी। "पतित" विशेषण है और हिन्दी भाषा मे इसका अर्थ "अपने धर्म से गिरा हुआ' 'पापी', 'दुष्ट', 'अधर्मी' इत्यादि होता है।

हम पतित, तुम पतित पावन
दोऊ बानिक बने।

एक प्रसिद्ध पद के ये शब्द किसकी स्मृति में गहरी छाप न लगाए होंगे?

संस्कृत भाषा में 'पत्' धातु परस्मैपद है जिसका अर्थ 'गिरना' 'नीचे आना' है। इस प्रकार 'छाया' के लिए संस्कृत भाषा या हिन्दी भाषा दोनों में 'भू पतित' शब्द में गौरवान्वित पद से नीचे

गिरने का भाव निहित है। 'छाया', विशेषकर पन्तजी की 'छाया'— स्वर्ग से भूमि पर गिरी बताई गई है। इसलिए 'भू पतित' का भाव ठीक ही है। परन्तु हिन्दी भाषा एक स्वतंत्र भाषा है। संस्कृत की ऋणी होते हुए भी वह आज संस्कृत भाषा का आधार छोड़ चुकी है। संस्कृत में एक शब्द शुद्ध होते हुए भी हिन्दी में अशुद्ध हो सकता है। 'प्रिय-प्रवास' के श्रद्धेय कवि ने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया कि आज हिन्दी भाषा में 'कुएँ' में गिरने के लिए कोई यह नहीं कहेगा कि "उसका कुएँ में पतन हो गया" या "वह कुएँ में पतित है।"

यह देखकर खेद होता है कि स्थान-स्थान पर 'पतित' और 'पात' का प्रयोग 'प्रिय-प्रवास' में साधारण रूप से 'गिरने' के अर्थ में ही किया गया है जो अशुद्ध ही नहीं अत्यन्त हास्यास्पद हो गया है। जैसा ऊपर लिखा है—'पतित' में 'पातकी' 'पापी' या 'धर्मच्युत' का भाव रहता है, परन्तु श्रद्धेय कविवर का साहस तो देखिए कि उन्होंने भगवान की कृपामयी दृष्टि को भी 'पतित' बना डाला है। लिखते हैं —

> यदि कभी प्रभु दृष्टि कृपामयी
> पतित हो सकती महि मध्य हो
> इस घड़ी उसकी अधिकारिणी
> मुझ अभागिनि तुल्य न अन्य है।

इसी प्रकार चन्द्रमा की चाँदनी के भूमि पर छिटकने के लिए लिखते हैं :—

> राका स्वामी सरस सुख की
> दिव्य न्यारी कलाएँ
> धीरे धीरे पतित जब थीं
> स्निग्धता साथ होती।

रथ से उड़ती हुई धूलि को देखकर एक बाला से कहलाया गया है —

आ आ, आके लग हृदय से
लोचनों में समा जा
मेरे अंगों पर पतित हो
बात मेरी बना जा।

पहाड़ के झरनों की उठती और गिरती फुहारों के लिए कहा गया है '—

जो छींटे उड़ती अनन्त पथ में
थी दृष्टि को मोहतीं
शोभा थी अति ही अपूर्व
उनके, उत्थान की, पात की।

वृक्ष के पत्तों के धीरे से गिरने पर लिखते हैं —

सकल पादप नीरव थे खड़े
हिल नहीं सकता इक पत्र था
च्युत हुए पर भी वह मौन ही
पतित था अवनी पर हो रहा

यह अवनी पर 'पतित' हो रहा है या भाषा का 'पतन' हो रहा है?

क्या तू भी है रुदन करती
यामिनी मध्य यों ही
जो पत्तों मे पतित इतनी
वारि की बूँदिया है।

यहाँ 'पत्तों में पतित' और 'वारि की बूँदिया' दोनों ही दर्शनीय हैं।

एक और द्रुतविलम्बित छन्द को देख कर हम "पतित" का प्रसंग समाप्त करते हैं। लिखा है;

> व्रजधरा इक बार इन्हीं दिनों
> पतित थी दुख वारिधि से हुई
> पर उसे अवलम्बन था मिला
> व्रज विभूषण के भुज पोत का

जिस "प्रिय-प्रवास" की नवीन शैली और माधुर्य का हिन्दी साहित्य को गर्व होना चाहिये उसी 'प्रिय-प्रवास' के श्रद्धेय कविवर की काव्य-प्रतिभा एक 'पतित' शब्द के हास्यास्पद प्रयोगों ने न जाने कितनी कम करदी है। एक सज्जन ने इन प्रयोगों को देख कर लिखा था.—

> "प्रियप्रवास" लिखा, लिख के पढा,
> पतित थे सुख वारिधि में हुए
> पर रही सुधि ये कवि को नहीं
> 'पतित' से कविता पतिता हुई।

(३)

'प्रिय-प्रवास' की संस्कृत गर्भित भाषा एवं संस्कृतमय शैली के कारण काव्य में दो दुर्विशेषताएँ आई बताई गई हैं.—

(१) क्लिष्ट शब्दावली एव (२) संश्लिष्ट पदावली; और इसीलिए कई समालोचकों ने लिखा है कि 'प्रिय-प्रवास' में प्रायः प्रसादगुण का अभाव ही दीख पड़ता है। भाषा न तो सरल है और न बोधगम्य।

चतुर्थ सर्ग के निम्नलिखित दो शार्दूल विक्रीड़ित छन्दों को उद्‌धृत करके समालोचकों ने क्लिष्ट शब्दावली एव संश्लिष्ट पदावली पर ध्यान दिलाया है। ये छन्द राधा की प्रशंसा में लिखे गये है। लिखा है.—

नाना भाव-विभाव-हाव कुशला
आमोद आपूरिता।
लीला-लोल कटाक्ष पात निपुणा
भ्रू-भंगिमा पंडिता॥
वादि-त्रादि समोद वादन-परा
आभूषणा भूषिता।
राधा थीं सुमुखी, विशाल नयना
आनन्द आन्दोलिता॥
सद्‌वस्त्रा - सदलंकृता गुणयुता
सर्वत्र सम्मानिता।
रोगी वृद्ध जनोपकार निरता
सच्छास्त्र चिन्ता परा।
सद्‌भावातिरता अनन्य हृदया
सत्प्रेम सन्तोषिका।
राधा थीं सुमना प्रसन्न वदना
स्त्री जाति रत्नोपमा॥

एक विद्वान् लेखक ने इन दोनों छन्दों को, सुनाते हुये एक बार कहा था कि 'जनाब' एक "थीं" को किसी थैली में बन्द कर दीजियेगा—फिर किस की मजाल जो इसे संस्कृत भाषा न बतलावे?

इस आक्षेप में कुछ तथ्य मानते हुए भी, दो बातें ध्यान देने योग्य हैं? पहली यह कि, क्लिष्ट शब्दावली होते हुए भी इन दोनों छन्दों में भाषा माधुर्य या भाषा-प्रवाह में कोई कमी नहीं हो पाई। दूसरी बात यह कि, 'प्रिय-प्रवास' में ऐसे सश्लिष्ट पदावली के कुल छन्द दस-बीस से अधिक नहीं होंगे। ऊपर लिखित छन्दों की भाषा कभी भी 'प्रिय-प्रवास' की भाषा की प्रतिनिधि नहीं बताई जा सकती।

हमने 'प्रिय प्रवास' पचीसों बार पढ़ा होगा, परन्तु जितना

पढा उतनी ही बार हमारा यह विचार और भी दृढ़ होता गया कि जहाँ-जहाँ संस्कृत-गर्भित भाषा एवं संस्कृतमय शैली शुद्ध रूप मे है वहीं 'प्रिय-प्रवास' मे श्रुतिमधुरता एवं संगीतमयता अधिक बढ गई है और वहीं 'प्रिय प्रवास' को पढ़ने मे अत्यधिक आनन्द आता है। संस्कृत गर्भित भाषा एव संस्कृतमय शैली का एकदम त्याग कर देने पर "वैदेही-बनवास" नीरस एवं शुष्क हो गया है। 'प्रिय-प्रवास' के मुकाबले मे, "वैदेही-बनवास" का मूल्य कुछ भी नहीं है। उसकी भाषा ढीली-ढाली और कहीं कहीं बहुत ही लचर हो गई है। संस्कृत-गर्भित भाषा एवं संस्कृतमय शैली, वास्तव में प्रिय-प्रवास' के भूषण है—दूषण नहीं।

कवि और लेखक की अपनी निजी शैली होती है, कोई क्लिष्ट भाषा को अपनाता है, कोई सरल भाषा को। आलोचक को तो केवल यही देखना होता है कि कवि या लेखक ने अपनी रुचि के अनुसार जैसी भाषा अपनाई है, उसमे कृत्रिमता तो नहीं आगई ? पूरे काव्य मे वह भाव को ठीक-ठीक व्यक्त करने में असफल तो नहीं हुआ ? और भाषा एवं भावों का सामंजस्य ठीक-ठीक बना रहा या नहीं ?

कहने की आवश्यकता नहीं कि 'प्रिय-प्रवास' के श्रद्धेय कविवर इस कसौटी पर अधिकतर खरे ही उतरे है। संस्कृत भाषा और हिन्दी भाषा दोनों पर उनका समान अधिकार प्रतीत होता है। जहाँ सरल शुद्ध हिन्दी भाषा ही प्रयुक्त हुई है वहाँ भी 'प्रिय-प्रवास' मे श्रुतिमधुरता बनी रही है। एक उदाहरण लीजिये.—

> धारा वही, जल वही, यमुना वही है
> है कुञ्ज वैभव वही, वन भू वही है
> है पुष्प पल्लव वही, व्रज भी वही है
> ए है वही, न घनश्याम बिना जनाते

एक दूसरा उदाहरण देखिए —

कुवलय कुल मे से तो
अभी तू कढा है
बहु-विकसित प्यारे पुष्प
में भी रमा है
अलि अब मत जा तू
कुंज मे मालती को
सुन मुझ अकुलाती
ऊबती की व्यथाएँ
यह समझ प्रसूनों पास
मैं आज आई
क्षिति तल पर है ए
मूर्ति उत्फुल्लता की
पर सुखित करेंगे ए मुझे
आह कैसे
जब विविध दुखों में भाग्य
होते स्वयं हैं ॥

यदि शुद्ध संस्कृत भाषा अथवा शुद्ध हिन्दी भाषा में ही सारा महाकाव्य लिखा गया होता तो 'प्रिय प्रवास' आधुनिक भाषा का गौरव ग्रंथ एवं हिन्दी काव्य का आदर्श ग्रन्थ हो गया होता। किन्तु श्रद्धेय कविवर को यह धुन समाई कि हिन्दी को जबरदस्ती संस्कृत के ढाँचे मे ढाल दिया जाय और संस्कृत भाषा को हिन्दी बना दिया जाय। इन दोनों प्रयत्नों के असफल होने मे तो आश्चर्य क्या हो सकता है? अवश्य, इस पर खेद होता है कि एक सुन्दर काव्य ग्रन्थ को, इन प्रयत्नों ने, स्थान-स्थान पर नीरस एवं कृत्रिम बना डाला है॥ हम इसके कई उदाहरण इसी लेख के पहिले भाग में दे चुके हैं यहाँ अब दोहराने की आव-

श्यकता नहीं रही है। वास्तव मे, कहीं-कहीं तो ऐसी भाषा लिखी गई है जो संस्कृत एवं हिन्दी, दोनों में अशुद्ध है। यथाः—

मुकुन्द ने एक विशाल दण्ड ले
सदर्प घेरा इक बार बाजि को
अनन्तराघात अजस्र से उसे
प्रदान की वाञ्छित प्राण हीनता।

'मृत्यु दंड देने' को या 'मार डालने को' यह कहना कि "प्राण-हीनता प्रदान की" कहाँ तक शुद्ध हो सकता है? शायद "आँख फोड़ डालने को" 'नेत्र' हीनता प्रदान की' कहना ठीक रहेगा? या 'हाथ काट डाले' के स्थान में यह लिखना उचित होगा कि "उसे हस्त हीनता प्रदान की"

एक स्थान पर लिखा है.—

पिला-पिला चचल वत्स को कहीं
पयस्विनी से पय थे निकालते

'पयस्विनी' अधिक दूध देने वाली गाय को कहते है। उसका दूध दुहने का भाव 'पय थे निकालते' में तो नहीं आ पाया!! शायद दूध "दुहा" नहीं जा रहा था, परन्तु या तो 'फूँका' द्वारा अन्य उपाय से 'निकाला' जा रहा था!!!

एक अन्य स्थान पर लिखा है.—

मारा भी है कुसुम कलिका से
कभी लाडिले को
तो भी मै हूँ निकट सुन के
सर्वथा मार्जनीया

शब्द 'मार्जनीया' का क्या अर्थ है? संस्कृत में मार्जन' 'स्वच्छ करने' या साफ करने' को कहते है। झाड़ू या बुहारी को 'मार्जनी'

कहते हैं। ढोल के शब्द को 'मार्जना' कहते है। 'मार्जनीया' हिन्दी में बना लिया गया है। शायद इसका अर्थ है "मै सुत के निकट" स्वच्छ करने योग्य हूँ" !!! क्या 'ताडनीया' से तात्पर्य है ?

एक और उदाहरण देखिये। लिखते है.—

ऊधो ! ऐसी दुखित उसके हेतु
क्यों अन्य होगी
माता की भी अवनितल में
है अ—माता न होती।

'अ माता का क्या अर्थ है ? 'पिता' और "अ-पिता" "भ्राता" और 'अ-भ्राता', 'माता' और 'अमाता', 'पत्नी' और 'अपत्नी', मे जरा सोचिये तो, कितना बारीक भेद है।

एक जगह लिखा है—

मम सदृश मही मे कौन
पापीयसी है ?
हृदय मणि गँवा के, नाथ !
जो जीविता हूँ ।

'पापीयसी' का अर्थ संस्कृत भाषा में है 'अपेक्षाकृत खराब'। यहाँ 'मम सदृश' के अनन्तर 'पापीयसी' का कोई अर्थ ही नही रहता !! प्रतीत होता है कि 'पापिनी' के स्थान में 'पापीयसी' का प्रयोग कर दिया है जो अशुद्ध है।

एक स्थान पर आया है—

जो पाती हूँ कुँवर मुख के
जोग में भोग प्यारा
तो होती! हैं हृदयतल में
वेदनायें बड़ी ही।

'जोग' और 'भोग' का जोडा देखने योग्य है।' 'योग' और 'भोग' प्रतीत होता है। सोच-विचार करने पर पता चलेगा कि योग्य' को 'जोग' बना डाला है और 'भोज्य' को 'भोग' बना डाला है'।

सस्कृत के साधारण पडित भी 'वृद्धा' के स्थान में 'प्राचीना' को प्रयुक्त नहीं करेंगे। परन्तु 'प्रियप्रवास' मे 'प्राचीना' कई स्थान पर इसी अर्थ मे प्रयुक्त किया गया है। यथा.—

जो सन्तप्ता सलिला—नयना
बालिकाएँ कई हैं
ए प्राचीना - तरल - हृदया—
गोपियाँ स्नेह द्वारा
शिक्षा देना समुचित इन्हें
कार्य होगा तुम्हारा
होने पावे न वह जिससे
मोह - माया निमग्ना।

और भी—

प्राचीना की सकुल सुनके
सर्व बातें मुरारी
दोनों आँखें सजल करके
प्यार के साथ बोले

ब्रज भूमि की ये 'प्राचीनायें' कदाचित् ऋग्वेदिक काल से जीवित चली आ रही होंगी॥

(४)

संस्कृत भाषा मे 'ता' एक भाववाचक प्रत्यय है जो विशेषण और संज्ञा शब्दों के बाद लगता है, यथा 'शत्रु' से 'शत्रुता', 'मनुष्य'

से 'मनुष्यता', इत्यादि। 'ता' कोमल शब्द है, और कोमल कान्त पदावली में श्रुति मधुरता अपने आप ही आ जाती है। शायद इसीलिए 'प्रिय-प्रवास' में और विशेष कर उसके छन्दों के अंतिम चरण में 'ता' की भरमार प्रतीत होती है। यथा—

(क) द्रुतविलम्बित छन्दों में :—

१ मदिरता, मृदुता, मधुमानता
२ सरसता, शुचिता, रुचिकारता
३ सफलता, कलता, अनुकूलता
४ कुटिलता, कटुता, मदशालिता

(ख) वंशस्थ छन्दों में :—

५ कुशीलता, आविलता, करालता
६ प्रवाहिता, भानु-सुता, प्रफुल्लिता
७ यथोचता, श्यामरता, विमोहिता
८ अवांछिता, कातरता, मलीनता
इत्यादि।

ऐसे 'ता' वाले भाववाचक संज्ञा शब्दों की गणना की जाय तो 'प्रिय प्रवास' में सैकड़ों की संख्या में ही मिलेंगे।

कहीं-कहीं छन्द इनके कारण बड़े मनोहर बन गये हैं। यथा—

निसर्ग ने, सौरभ ने, पराग ने,
प्रदान की थी अति मंजु भाव से
वसुन्धरा को, पिक को, मिलिन्द को,
मनोज्ञता, मादकता, मदान्धता।

× × ×

बसन्त माधुर्य विकाश वर्द्धिनी
क्रिया मयी मार-महोत्सवा कता

सुकोमलें थी तरु अङ्क में लसी
ए-अग-रागा अनुराग रजिता
नये नये पल्लववान पेड़ मे
प्रसून मे आगत थी अपूर्वता
वसन्त म थी अधिकाश शोभिता
विकाशिता वेलि प्रफुल्लिता लता

कहीं-कहीं 'ता' वाले शब्दो की आवृति से छन्द मे बड़ी अच्छी नाद शक्ति (Sound Force) भी आ गई है। एक उदाहरण देखिए—

तरल तोयधि तुग तरग से
निविड़-नीरद थे घिर घूमते
प्रबल हो जिनभी बढती रही
असितता घनता रवकारिता

पढते ही प्रतीत होता है कि काले बादलों के झुण्ड के झुण्ड उमड घुमड़ कर घिरते चले आ रहे है। इसी प्रकार यमुनाजी के कल-कल करते हुए, फेन और बुद-बुदों सहित, बढ़ते हुए प्रवाह का सुन्दर दृश्य बड़े अच्छे शब्दों मे अकित किया गया है। लिखते हैं—

स बुदबुदा फेन युता सु शब्दिता
अनन्त-आवर्त मयी प्रफुल्लिता
अपूर्वता अकित सी प्रवाहिता
तरग मालाकुलिता कलिन्दजा

इसमे कोई सदेह नही कि 'प्रिय-प्रवास' की सुन्दर संगीत लहरी का अधिकतर कारण उन अक्षरों की आवृत्ति ही है जिनके अन्त में भाव-वाचक प्रत्यय 'ता' आता रहता है। कहीं-कहीं ये शब्द सर्वथा संस्कृत व्याकरण के अनुसार शुद्ध है, कहीं-कहीं हिन्दी

प्रणाली के अनुसार शुद्ध है, परन्तु, कहीं-कहीं न तो हिन्दी प्रणाली के अनुसार और न संस्कृत व्याकरण के ही अनुसार शुद्ध है। वास्तव में, कहीं-कहीं तो यह प्रतीत होता है कि 'प्रिय-प्रवास' ने मशीन की तरह ये शब्द गढ़ डाले हैं !! श्रद्धेय कवि ने इस ओर किंचित भी ध्यान नहीं दिया कि 'अति सर्वत्र वर्ज्यते'। 'कवितागत सौकर्य सम्पादन' के बहाने न जाने कितने अनावश्यक एवं अशुद्ध शब्द 'प्रिय प्रवास' के संगीत मय वर्णिक वृत्तों की सरसता को कम करते प्रतीत होते हैं। एक स्थान पर लिखा है—

> किसी गुणी वैद्य समान था खड़ा
> स्वनिम्बता गर्वित वृक्ष निम्ब का

'स्वनिंबता' क्या होती है ? बबूल का वृक्ष 'स्वबबूलता' से गर्वित था और नींव का वृक्ष 'स्वनिंबता' से गर्वित था !! स्वनिंबता यहाँ गढ़ा गया है, और अनावश्यक होते हुए भी छन्द में 'ता' के नाते रख दिया गया है। इसी प्रकार लिखा गया है—

> प्रवंचना से उसकी प्रवंचता
> विशेष होती ब्रज की बसुन्धरा

'प्रवचना' और 'प्रवचता' का जोड़ देखने योग्य है, अर्थ चाहे कुछ निकलता हो या नहीं।

अब संस्कृत का एक शब्द 'दग्ध' है। 'दग्ध हृदय' 'जले हुए' या 'दुःखित हृदय' को कहते हैं, दग्ध हृदय वाली स्त्री को अधिक से अधिक 'दग्ध हृदया' कह लीजिएगा, परन्तु 'दग्धा' नहीं कहते। 'दग्धा' का अर्थ या तो 'पश्चिम' दिशा होता है या अशुभ तिथियाँ (दग्धा तिथियाँ) होता है।

परन्तु प्रिय-प्रवास में कई स्थलों पर 'दग्धा' 'दग्ध हृदया' के लिए प्रयुक्त हुआ है।

यथा—

"ऐसी दग्धा परम दुखिता जो हुई मोदिता है
ऊधो तो हूँ परम सुखिता हर्षिता आज मैं भी"

'दग्धा' के बाद 'दग्धिता' भी गढ़ लिया गया है। यथा—

(१) जो वंशी के सरस स्वर से
है सुधा सी बहाता
ऐसे माधो विरह दव मे
मै महा दग्धिता हूँ

(२) जो बालाएँ विरह दव मे
दग्धिता हो रही हैं
इत्यादि।

इसी प्रकार 'कलवादिता' का नमूना भी देखिये—

कलित नूपुर की 'कलवादिता'
जगत को यह थी जतला रही

अथवा—

ज्यों ज्यों हुई अधिकता कलवादिता की
ज्यों ज्यों रही सरसता अभिवृद्धि पाती
त्यों त्यों कला विवशता सुविमुग्धता की
होती गई समुदिता उर में सबों के—

अब 'कष्ट' से 'कष्टिता' गढ़ लिया गया है। संस्कृत में 'कष्टी' एक विशेष प्रकार की वेदना (प्रसव वेदना) से पीड़ित स्त्री को कहते है। पता नही 'प्रियप्रवास' मे 'कष्टिता' का अर्थ क्या है, परन्तु कई बार प्रयुक्त हुआ है। यथा—

(१) हो जावेगी प्रथित मृदुता
पुष्प सदिग्ध तेरी
जो तू होगा व्यथित न
किसी कष्टिता की व्यथा से
(२) तेरी तीखी महक मुझको
कष्टिता है बनाती

इसी प्रकार 'उत्कण्ठा' के स्थान मे 'उत्कंठिता' भी बना लिया गया है, यथा—

ऊधो बीते दिवस अब वे
कामना है विलीना
भोले भले विकचमुख की
दर्शनोत्कंठिता मे।

लिखने की आवश्यकता नही कि 'मूलता' 'आमूलता' 'अशाकता' 'सशाकता' 'सदम्बुता' 'निरम्बुता' 'सांगता' 'सदंगता' 'लोमता' 'अलोमता' 'बिलोमता' 'आश्वासिता' 'उपलगठिता' 'मर्दनोद्यता' 'अनपत्यता' इत्यादि गढ़े हुए शब्द 'प्रिय प्रवास' मे जहाँ-जहाँ प्रयुक्त हुए है वहाँ व्यर्थ एवं अनावश्यक प्रतीत होते है।

तात्पर्य यह है कि हिन्दी और संस्कृत भाषा में शायद ही ऐसा कोई शब्द बचा हो जिसमे 'ता' लगाकर भाववाचक संज्ञा या विशेषण बना कर 'प्रिय प्रवास' मे न रखा गया हो, कहीं-कहीं ऐसा प्रतीत होता है कि केवल ऐसे शब्दों को छन्दों मे रखने के उद्देश्य से ही अनेक व्यर्थ एवं अनावश्यक प्रसंग भी बढ़ा दिये गये है। यह कृत्रिमता छन्दों मे अलग ही दृष्टिगोचर हो रही है।

दशम सर्ग में, घर में यशोदा और नन्द बैठे हुए बताये गये हैं उस समय वहाँ कुछ वृद्धा 'परिचारिकाएँ' भी होंगी। उनका वर्णन अनावश्यक होते हुए भी, 'ता' प्रत्ययवाले शब्दो के प्रलोभन के कारण ही किया गया प्रतीत होता है लिखते है—

अति जरा विजिता बहु चिन्तिता
विकलता ग्रसिता सुख वञ्चिता
सदन मे कुछ थीं परिचारिका
अधिकृता कृशता अवसन्नता
मुकुर उज्ज्वल मजु निकेत मे
मलिनता अति थी प्रतिबिम्बिता
परम नीरसता सह आवृता
सरसता शुचिता युत वस्तु थी

पढ़कर प्रतीत होता है कि जो अत्यन्त बुढापे के कारण जर्जरित थीं, केवल वे परिचारिकाएँ ही विकल चिन्तित एवं सुख वञ्चित थीं। जो वृद्धा नहीं थीं शायद, वे सब कृष्ण-वियोग मे सुखी रही होंगी। और 'अधिकृता कृशता अवसन्नता' का क्या अर्थ हुआ? यह पंक्ति ही निरर्थक एव व्यर्थ है, श्रद्धेय कविवर का अवश्य यह तात्पर्य है कि वे सब परिचारिकाएँ विषाद एव कृशता (दुबलेपन) से अधिकृत थीं। 'विषाद कृशता' ने उन पर अधिकार कर लिया था। परन्तु 'अति जरा विजिता' (अत्यन्त बूढ़ी) उन्हें पहले ही बतला चुके थे। केवल कृष्ण वियोग मे दुबली हो गई थीं यह भाव तो नहीं आ पाया।

अब निकेत (घर) तो उज्ज्वल एव मजु था परन्तु मलिनता की परछाई शायद इन्ही परिचारिकाओ के कारण पड़ रही थी। यह परछाईं परम नीरस तो नही थी, परन्तु नीरसता सह आवृत्ता थी। किन्तु विरोधाभास तो देखिए 'परम नीरसता सह आवृता' होने पर भी 'सरसता शुचिता युत' बनी हुई रही। अगर आप पूछें कि 'मलिनता' 'प्रतिबिंबता और 'नीरसता सह आवृता' होने पर भी 'सरसता' कहाँ से आ गई तो हमारा निवेदन यही है कि केवल 'ता' की करामात से 'सरसता' भी आ गई॥

निःसन्देह 'ता' ने 'प्रिय प्रवास' को अपार माधुर्य एवं कोमल कान्त पदावली प्रदान की है। साथ-साथ अनावश्यक अशुद्ध एवं

निरर्थक प्रयोग भी 'ता' की एकतानता की कृपा के फल है। 'प्रिय प्रवास' की सरसता एवं नीरसता का मिश्रण एक 'ता' के अपार मोह के कारण ही है इसीलिए हमारा विचार है कि निम्न-लिखित छन्द 'प्रिय प्रवास' के साथ साथ 'ता' की स्मृति को भी चिरस्थायी बनाने में सहायक होंगे। 'प्रिय-प्रवास' की प्रशंसा मे लिखे गए इन छन्दों को उद्धृत करते हुए हम अपना निबन्ध समाप्त करते है:—

'प्रियप्रवास महा मृदुता रता
सरसता, प्रियता, सुमनोज्ञता,
ललित, छन्द कला रमणीयता,
विकसिता कविता उत्फुल्लता
'सिसक'ता, 'सिक'ता, अति-'शब्द'ता,
तदपि नीरसता, पुनि व्यर्थता,
नियम, पद्धति, रीति धता बता
लगन ता' महि थे कवि लापता॥

(५)

किसी महाकाव्य की सफलता के लिये आदि से अन्त तक सुगठित एव सुव्यवस्थित भाषा का होना आवश्यक है।

भाषा का अच्छा रहना हृदय में उठते हुए तूफानों पर भी अवलम्बित है। जब कवि के हृदय मे एक तूफान उठता है या भावों का उफान वेग से आता है, उस समय जो भाव हृदय के बाहर से आते हैं उन भावों को व्यक्त करती हुई भाषा स्वतः ही अच्छी हो जाती है। कवि को उस समय न तो परिश्रम करना पडता है और न परिश्रम करने की आवश्यकता ही होती है। इसीलिए छोटे-छोटे गीति काव्यों की भाषा अधिकतर अच्छी होती है।

परन्तु महाकाव्य में बहुत से स्थल ऐसे होते हैं जहाँ कवि के हृदय में न तो कोई तूफान ही उठ सकता है और न भावों का कोई उफान ही आ सकता है। महाकाव्य मे, बहुत से छन्द तो केवल सिलसिला मिलाने के लिए लिखने पड़ते है, बहुत से छन्द इतिवृत्तात्मक वर्णन के लिये लिखने पड़ते है और बहुत से छन्द केवल चरित्र चित्रण के लिए लिखने पडते है। ऐसे छन्दों की भाषा एव शैली, कवि को परिश्रम करके इतनी ऊँची बनानी पड़ती है कि उन छन्दों की भाषा एव शैली से मिल जाय जो कवि ने तूफान और उफान के वेग मे अपनाई है। इस भाषा के मिलाने में ही कवि-कौशल की परीक्षा हुआ करती है, साधारण इतिवृत्तात्मक वर्णन के छन्दों की भाषा ही वास्तव में महाकाव्य के परखने की कसौटी होती है।

इसी बात पर, एक विदेशी समालोचक ने १६३० के अप्रेल अंक के 'हिबर्ट जरनल' मे जोर दिया था। उन्होंने लिखा था—

"To maintain a mastery of form when the emotional pitch is low needs a finer technical skill than to write well under the compelling influence of strong emotion"

(E D Selincourt: Testament of Beauty)

जोरदार भावों के आवेग में अच्छी भाषा प्रयोग करने की अपेक्षा उस समय शैली का उत्कर्ष बनाये रखने मे अधिक लेखन-कौशल की आवश्यकता है जब हृदय मे भावों का उफान मन्द पड गया हो।

तात्पर्य यह है कि महाकाव्य की भाषा परखने के समय केवल अच्छे-अच्छे छन्दों पर ही दृष्टि सीमित न रखनी चाहिए। उन छन्दों की भाषा पर भी दृष्टि डालना आवश्यक है जो केवल इतिवृत्तात्मक वर्णन में या सिलसिला मिलाने के लिये लिखे गये हैं।

यदि कवि की भाषा यहाँ भी ऊँची रही है, यदि कवि की विशिष्ट शैली में यहाँ भी कोई कमी नहीं दिखाई पडती, तभी यह कहा जा सकेगा कि कवि निःसदेह सक्षम है और उनका भाषा पर पूर्ण अधिकार है।

'प्रिय-प्रवास' जैसा सरस काव्य, और विशेषकर नवीन शैली में, हिन्दी भाषा में अवश्य दुर्लभ है। साधारण छन्दों मे भी उसमे एक विशेष आवेग है और एक संगीतमयता प्रतीत होती है। 'प्रिय-प्रवास' का अधिकाश वास्तव में इस कसौटी से भी खरा उतरता है जिसकी ओर ऊपर लिखित विदेशी समालोचक ने ध्यान खींचा है।

इतने बड़े काव्य ग्रन्थ मे, अधिकतर भाषा अच्छी होते हुए भी यदि कहीं कहीं भाषा शैथिल्य आ गया है तो वह क्षम्य है। उसका एक मात्र कारण यह है कि काव्य लिखते समय श्रद्धेय कविवर हरिऔधजी का ध्यान केवल सस्कृत वृत्तों पर ही था, भाषा की एकरूपता, या आदि से अन्त तक महाकाव्य की सुगठित एवं सुव्यवस्थित भाषा पर नहीं था। हिन्दी भाषा के आधुनिक काव्य ग्रन्थों में 'प्रिय प्रवास' एक नितान्त नवीन शैली के सफल प्रयोग करने में ही लगा था। आदि से अन्त तक भाषा की सुव्यवस्था पर उतना ध्यान नहीं रह सका।

कहीं-कहीं भाषा शैथिल्य अलग दिखाई पडता है। एक स्थान पर लिखा है—

टापों का नाद जब तक था
कान में स्थान पाता
देखी जाती जब तक रही
यान ऊँची पताका
थोड़ी सी भी जब तक रही
व्योम मे धूलि छाती

यों ही बातें विविध करते
लोग ऊबे खड़े थे ।

'टापों के नाद' का 'कान में स्थान पाना' अत्यन्त दुर्लभ प्रतीत होता है। वास्तव मे यही 'नाद' 'कान मे स्थान' पाता रहा तो स्वयं ही पाठक 'ऊब' कर खडे हो जायँगे।

एक अन्य स्थल पर लिखा है—

घरा आके सकल जन ने
यान को देख जाता
नाना बातें दुखमय कहीं
पत्थरों को रुलाया,
हा हा खाया बहु विनय की
यों कहा खिन्न हो के
जो जाते हो कुँवर मथुरा
ले चलो तो सभी का

यहाँ भाषा ही, मन्दाक्रान्ता छन्द से, 'हा-हा' खाती नजर आ रही है।

इसी प्रकार एक स्थान पर लिखा है —

दोनों तीखे तुरग उचके
औ उड़े यान को ले
आशाओं में, गगन तल में,
हो उठा शब्द हा हा

दोनों घोडे शायद किसी ऊँची चीज को पकडने के लिए 'उचके' होंगे। इसीलिए शायद 'आशाओं में' हा हा शब्द हो उठा होगा।

कहीं-कहीं मुहावरों का प्रयोग ठीक न हो सकने के कारण सुन्दर छन्दों का सौन्दर्य ही बिगड गया है।

ज्यामा प्राणी श्रवण करके
वारि के नाम ही को
क्या होता है पुलकित कभी
जो उसे पी न पावे
हो पाता है कब तरणि का
नाम ही त्राण कारी
नौका ही है शरण जल में
मग्न होते जनों की

सोचने की बात है कि जल मे डूबते हुओं के पास नौका हमेशा कहाँ से आ सकती है ? मुहावरा है 'डूबते हुओं को तिनके का सहारा'। श्रद्धेय कवि कह रहे हैं, 'डूबते हुए को 'नाव' का सहारा।' 'परमात्मा का सहारा' ही बताते तो अच्छा रहता।

संस्कृत मयी शैली में गंवारू शब्द भी यत्र-तत्र बुरी तरह खटकते हैं। यथा—

जी चाहे तो शिखर सम जो
सद्‌म के हैं मुंडेरे
वाँ जा ऊँची अनुपम ध्वजा
अंक में ले उड़ाना

यहाँ 'सद्‌म के मुंडेरे' भाषा को बिगाड रहा है।

इसी प्रकार एक स्थान पर लिखा है :—

काले कुत्सित कीटका कुसुम मे
कोई नहीं काम था
काँटे से कमनीय कुंज कृति मे
क्या है न कोई कमी
पोरों में कब ईख की

विपुलता है ग्रन्थियों की भली
हा दुर्दैव प्रगल्भते अपटुता
तू ने कहॉ की नहीं ?

यहॉ संस्कृत गर्भित भाषा मे 'ईख के पौरे' अलग दिखाई देकर छन्द की एक रूपता मे 'अपटुता' का आभास दे रहे है ।

एक मन्दाक्रान्ता छन्द की 'ऍड़ी बेडी' भाषा देखने योग्य है । लिखते है—

ऊधो बोले समय गति है
गू- अज्ञात बेंड़ी
क्या होवेगा कब यह नहीं
जीव है जान पाता

यहॉ शब्द 'बेडी' ने भाषा भी 'अज्ञात बेडी' बना डाली है ।

एक अन्य स्थान पर लिखा है—

पेचीले नव राजनीति पचड़े
जो वृद्धि हैं पा रहे
यात्रा में व्रजभूमि की अहह वे
हैं विघ्नकारी बड़े

'प्रिय-प्रवास' की सरस भाषा मे न जाने ऐसे 'पेचीले' 'पचड़े' कहॉ से आ घुसे हैं ?

संस्कृत पदावली मे खड़ी बोली की 'खड़खड़ाहट' भी कहीं बहुत बुरी दिखाई पड़ती है । यथा—

तरु अनेक उपस्कर सज्जिता
अति मनोरम काय अकंटका
विपिन को करती छवि धाम थी
कुसुमिता फलिता बहु झाड़ियॉ

संस्कृत शब्दावली और कोमल कांत पदावली के रसास्वादन के अनन्तर एक दम अंत में 'झाड़ियों' का आ जाना कर्ण कटु ही नहीं प्रतीत होता, भाषा प्रवाह को भी बुरा बना देता है। 'कुसुमिता फलिता बहु झाड़ियों' ध्यान देने योग्य है। कवि ने सदा ही 'कुंज', 'निकुंज' शब्द प्रयुक्त किये हैं, परन्तु केवल इसी स्थान पर 'झाड़ियों' शब्द का प्रयोग कर दिया है।

एक अन्य स्थान पर लिखा है :--

उद्विग्ना औ विपुल विकला
क्यों न सो धेनु होगी
प्यारा लेरू अलग जिसकी
आँख से हो गया है

यहाँ शब्द 'लेरू' ने भाषा को विकल और उद्विग्ना बना डाला है।

समा का समा

कहीं-कहीं संस्कृत शब्द और उर्दू लफ्ज पास-पास रखकर, या दोनों का समान प्रयोग करके, या संस्कृत शब्दों के बीच में उर्दू का लफ्ज बेंठाल करके भाषा की एकरूपता नष्ट की गई है। एक छोटा सा उदाहरण पर्याप्त होगा। लिखा है :—

पूजाएँ सो विविध व्रत
औ सैकड़ों ही क्रियायें
सालों की हैं परम श्रम से
भक्ति द्वारा उन्होंने

यहाँ फारसी लफ्ज 'साल हा साल' का रूपांतर 'सालों' ने भाषा की एकरूपता नष्ट तो की है, साथ साथ यह भी शंका होती है कि कहीं साली सलहज वाले 'सालों' से तो मतलब नहीं है।

'सालों' के स्थान में 'वर्षों' लिख दिया होता तो भाषा भी ठीक रहती और छन्द भी ठीक बना रहता।

इसी संबंध में 'समा' के समा पर ध्यान देना अनुचित न होगा। 'प्रिय प्रवास' में 'सम' के स्थान पर 'समा' अधिकतर प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है 'समान' या 'तुल्य'। यथा—

तृण समाकर नीलम नीलिमा
मसृण थीं तृण राजि विराजतीं

और—

विलोकनीया नभ नीलिमा समा
नवाम्बुदों की कल कालिमोपमा

या—

तवा समा थी तपती वसुन्धरा
स्फुलिंग वर्षा रत तप्त व्योम था

या—

नितान्त ही थी बनती भयकरी
प्रचंड दावा प्रलयंकरी समा

यदि इसी अर्थ में 'समा' बराबर प्रयुक्त होता रहता तो आपत्ति क्या हो सकती थी। हम यही समझ लेते कि 'समान या' 'सम' न लिख कर छन्द ठीक करने को 'समा' लिख दिया।

परन्तु इन प्रयोगों के साथ अरबी लफ़्ज़ 'समाँ', का भी बराबर ही प्रयोग किया है।

यथा—

ऊधो! बातें न यक पल भी
हाय वे भूलती हैं
हा! छा जाता दृग युगल में
आज भी सो समा है

या—

इधर था इस भाति समा बना
उधर व्योम हुआ कुछ और ही

या —

प्रलयकालिक सर्व समा दिखा
बरसता जल मूसलधार था।

अथवा—

जैसा बँधा इस महानिशि में समा था
होगी न कोटि मुख से उसकी प्रशंसा

इन दोनो 'समा' को बराबर प्रयुक्त होते देखकर कहीं-कहीं यह पता नहीं चल पाता कि कौन से 'समा' से तात्पर्य है। एक स्थान पर लिखा है—

जहाँ न वंशीवट है न कुंज है
जहाँ न केका पिक है, न शारिका
न चाह वैकुण्ठ रखें न है जहाँ
बड़ी भली, गोप लली, समा अली

यहाँ 'भली' 'लली' 'अली' का अनुप्रास तो बन गया है। परन्तु सोचिए तो 'समा अली' का अर्थ क्या हुआ? वास्तव में, यहाँ 'समा' का 'समाँ' प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

हमे याद है, एक परीक्षार्थी ने अर्थ न समझते हुए भी कुछ न कुछ अर्थ निकालने का यत्न करते हुए यह लिखा था—

'रहीम, रसखान, ताज, मुबारक, महबूब और नजीर की तरह 'मियाँ समाअली' भी बड़े ही कृष्ण भक्त हुए हैं। उन्हीं समाअली को सबोधन करते हुए कविवर कह रहे हैं कि, हे समाअली! जहाँ वशीवट नहीं, कुंज नहीं, केकी, पिक, सारिका नहीं, बड़ी भली गोप लली नहीं, वहाँ वैकुंठ भले ही हो, मुझे उसकी चाह नहीं है।

शायद मियाँ 'समा अलीभी सहमत हुए होंगे। वास्तव में 'प्रिय-प्रवास' में 'समा' का 'समाँ' देखने योग्य है।

'प्रिय प्रवास' के ऐसे प्रयोगों ने भाषा की एकरूपता एव सरसता को न जाने कितनी हानि पहुँचाई है।

यदि 'प्रिय-प्रवास' ऐसे प्रयोगों से बचाया जाता तो उसकी छन्द कला रमणीयता तो नष्ट न होने पाती। और भिन्नतुकान्तता एव सस्कृत वृत्तता के सहित नितान्त नवीन शैली का एक मौलिक काव्य ग्रन्थ, प्रिय-प्रवास, मातृभाषा का अद्वितीय पुष्पोपहार बन कर ही रहता। किन्तु श्रद्धेय कविवर का ख्याल इन दोषों की ओर किंचित भी नहीं गया। सस्कृत की संश्लिष्ट पदावली मे खड़ी बोली के, ब्रजभाषा के, अवधी के, एवं ग्रामीण भाषा के शब्दों को जबरदस्ती बिठाने से भाषा कहीं-कहीं अन्यत लचर हो गई है। कहीं-कहीं कर्णकटु शब्दों की भरमार है। कहीं कृत्रिमता एवं नीरसता भी आ गई है। यह मानते हुए भी कि 'प्रिय प्रवास' का अधिकांश सरसता से भरा हुआ है, यह लिखने मे सकोच नहीं होता कि उपरोक्त नीरसता एवं कृत्रिमता ने 'प्रिय-प्रवास' का शुद्ध साहित्यक मूल्य अवश्य कम कर दिया है। यदि श्रद्धेय कविवर हिन्दी शब्दों को सस्कृत का आवरण पहिनाने का व्यर्थ प्रयत्न न करते तो भी भाषा का कुछ भला होता और 'प्रिय-प्रवास' की सरसता बची रहती। कहीं-कहीं हिन्दी शब्दों को संस्कृत के साँचे मे ढालने के प्रयोग अत्यंत हास्यास्पद भी हो गये हैं। एक स्थान पर लिखा है—

> समुच्च शाखा पर वृक्ष की किसी
> तुरन्त जाते चढते स व्यग्रता
> सुने कठोरा ध्वनि अश्व टापें की
> समस्त आभीर अतीव भीत हो

यहाँ 'घोड़े की टाप' की आवाज़ भी संस्कृत भाषा का आवरण

पहिनकर पाठकों को भयभीत बना रही है। ऐसी कठोर ध्वनि से कौन नहीं डरेगा ?

अब श्रद्धेय कविवर की पैनी नजर का दूसरा नमूना देखिए 'भड़भूजे की भाड़' तक को नहीं छोड़ा। लिखते हैं—

> बिदग्ध होके कण धूलि राशि का
> हुआ तपे लोह कणा समान था
> प्रतप्त बालू इव दग्ध भाड़ की
> भयकरी थी महि रेणु हो गई

'प्रतप्त बालू' और दग्ध 'भाड़' की भाषा देखने योग्य है। भाग्य तो देखिए, भड़भूजे के भाड़ की बालू का! कितने सरस महाकाव्य में कितनी सुगमता से आ डटी है!! 'भाड़' भी संस्कृत भाषा का शब्द बना दिया गया है।

इसी प्रकार एक स्थान पर लिखा है—

> रहे खिलाते पशु धेनु दूहते
> प्रदीप जो थे गृह मध्य बालते

'दूहते' और 'बालते' की जोड़ी तो देखने ही योग्य है। 'गृह मध्य प्रदीप बालते' की भाषा भी दर्शनीय है।

वास्तव मे 'प्रतप्त बालू', 'दग्ध भाड़', 'गृह मध्य बालने' की भाषा 'कागा और कोकिल' की जोडी प्रतीत होती है। ऐसी जोडीदार भाषा 'प्रिय-प्रवास' मे यत्र-तत्र सुगमता से मिल जाती है।

एक स्थान मे कोयल से यशोदाजी कहती है—

> यथैव हो पालित काक अंक मे
> त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय हैं
> तथैव माधो यदु वश म मिले
> अशोभना, खिन्नमना, मुझे बना

'त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय हैं' की भाषा और भाव दोनो ध्यान देने योग्य है। 'त्वदीय' संस्कृत का शब्द है। दोनों का जोड़ा 'कागा-कोकिल' का ही जोड़ा रहा। अब 'त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय है' का अर्थ हुआ 'तुम्हारे बच्चे तुम्हारे बनते है' शायद कविवर कहना चाहते हैं 'तुम्हारे बच्चे तुम्हारे सदृश हो जाते है' परन्तु भाषा से यह भाव नहीं आ पाता। जो कुछ भी हो, 'त्वदीय बच्चे' की भाषा 'प्रिय-प्रवास' की निजी भाषा है, इसकी एक विशेषता है !!

इसीलिए एक सज्जन ने लिखा था कि यदि कविवर उपरि-लिखित छन्द को बदल कर निम्नलिखित बना देते तो 'प्रिय-प्रवास' की भाषा के संबंध मे कुछ ठीक-ठीक निष्कर्ष तो निकल आता —

यथैव हो पालित काक अक मे
त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय हैं
तथा निराली, कवि-अक में पली
मदीय 'हिन्दी' भवदीय मानने !!

श्री सियारामशरण गुप्त का 'बापू'

श्री सियारामशरण जी गुप्त ने 'आर्द्रा', 'विषाद' 'मौर्य्य-विजय' 'दूर्वादल', मृण्मयी', पाथेय' 'आत्मोत्सर्ग', 'अनाथ', 'बापू' और 'उन्मुक्त' लिखकर हिन्दी काव्य का कलेवर अलंकृत किया है। सशक्त एवं सजीव भाषा का जो रूप हमें 'उन्मुक्त' मे मिलता है, वह उनकी अन्य रचनाओं में कहीं नहीं मिलता।

किन्तु 'उन्मुक्त' उतना लोकप्रिय नहीं हो पाया जितना 'बापू'। हिन्दी-संसार मे 'बापू' का अत्यन्त आदर-सत्कार भी हुआ और इंटरमीजिएट की परीक्षा मे भी कई साल तक पाठ्य पुस्तक के रूप में पढ़ाया जाता रहा। आलोचकों ने अनेकानेक प्रशसात्मक लेख लिखे और प्रो० ब्रह्मदत्त शर्मा एम० ए० ने तो 'बापू' से भी बड़ी 'बापू-विचार' नामक समीक्षात्मक पुस्तक ही लिख डाली।

महात्मा गान्धी जी के सिद्धान्तों की व्याख्या अथवा उनका जीवन-चरित्र न होकर 'बापू मे केवल उनका यशोगान हुआ है। वास्तव मे, जिस व्यक्ति का इसमें यशोगान है वह वर्त्तमान विश्व की एक अनुपम विभूति थे। 'बापू' की लोकप्रियता का मुख्य कारण यही है। स्वर्गीय श्री महादेव देसाई के प्रशंसात्मक प्राक्कथन के रूप मे छपे हुए पत्र के कारण बापू को और भी अधिक अपनाया गया है। इस दृष्टिकोण को अलग करके हमें 'बापू' मे कवि के काव्य-कौशल पर ही एक दृष्टि डालनी है।

संस्कृत की छाप

'बापू' में संस्कृत की पूरी छाप है। संस्कृत के क्लिष्ट संधिज शब्दों का भी बाहुल्य है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि हम संस्कृत

गर्भित भाषा के विरुद्ध हैं। लेखक एवं कवि की अपनी-अपनी शैली होती है। कोई तत्सम प्रधान भाषा पर अधिक अधिकार रखता है, कोई तद्भव-प्रधान भाषा पर। एक को राष्ट्रीय बताकर दूसरी को विदेशीय बताना शैली के प्रति अन्याय होगा। हम केवल भाषा की एकरूपता, सुन्दर भाषा प्रवाह एवं शुद्ध प्रयोग पर जोर देकर यही देखना चाहते हैं कि भाषा भावों की अनुगामिनी है या नहीं? भाषा भावों को ठीक-ठीक व्यक्त कर रही है या नहीं? तत्सम-प्रधान भाषा के संस्कृत वातावरण में कहीं किसी बेसुरे तद्भव या ग्रामीण शब्द ने भाषा-प्रवाह को तो नहीं बिगाड़ दिया? कहीं अत्यानुप्रास और पाद-पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्द लाकर अर्थ का अनर्थ तो नहीं कर दिया?

एक उदाहरण उचित होगा। पृष्ठ ४५ पर 'बापू' में लिखा है—

> जाना अहा! जाना तब,
> मानलिया, अहा! मनमाना अब,
> कष्ट वह था न व्यर्थ,
> वैसे में तवागम का स्पष्ट अर्थ
> आज के उछाह में लिखित है,
> अप्रिय कठोरता में प्रियता निहित है!

कवि का भाव यह है कि "जो जो कष्ट आपने आकर उठाये थे, वे बाहरी दृष्टि से बुरे जान पड़ते थे परन्तु उनका परिणाम अच्छा रहा।"

उपर्युक्त पद्य पढ़ कर भाव कठिनता से समझ पड़ते हैं। 'अहा' 'अहा' से कवि का शब्द-कोष खाली जान पड़ता है। 'मनमाना' का अर्थ 'मनचाहा' या 'दिल-पसंद' है। परन्तु कवि का भाव यह है कि मेरा मन अब मान गया है।

फिर "वैसे में" के अनन्तर "तवागम" और फिर तत्सम-प्रधान

भाषा। "तवागम का स्पष्ट अर्थ" के अनन्तर 'उछाह' लाकर भाषा बिगड गई है।

एक अन्य स्थान पर लिखा है—

> आते हैं दुरन्तदोल भूमिचाल,
> स्थल के तरगोत्ताल
> देने समहीन ताल
> उच्छृङ्खल कालनृत्य गति में
> मुक्ति अनियति मे
> पीछे कहीं दौड़ दौड़ पड़ते
> हाँप से उखड़ते
> खस खस पड़ते समुन्नत महीध्रशृ ग
> अचला के अक मे लिपटते

संस्कृत शब्दों के 'महीध्रशृंग' भाषा की दौड़ में हाँफते-हाँफते उखड़ कर खस पडे हैं—ऐसा यहाँ प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

इसके आगे लिखते हैं—

> उच्च हर्म्य हेम धाम!
> छिपते उजाड़ में नगर ग्राम,
> चाहते अशान्त—
> उर विस्तृत सुनीरनिधि
> कौन विधि
> ओट लें सपाट मरुस्थल की

संस्कृत भाषा के वातावरण में 'ओट लें सपाट' ने भाषा को ही चौरस बना दिया !!

भाषा प्रवाह एक दम रुक गया है। 'बापू' में पुराने छंद-विधान को त्याग कर सारी रचना, नवीन प्रकार से, केवल लय के

आधार पर ही की गई है। अन्त्यानुप्रास मे किसी भी नियम का पालन नहीं किया गया है। कहीं पास है कहीं दूर, कहीं अन्त्यानुप्रास का अभाव भी मिलता है। किन्तु कई स्थलो पर केवल अन्त्यानुप्रास के लिए शब्द गढ़े जाकर काव्य में कृत्रिमता भी लाई गई है।

यथा—एक स्थान पर लिखा है—

> लौटा नहीं, लोटा नहीं, हाय हाय,
> आग्रही अकम्प काय।
> उधर पशुत्व का कराल कोप फूट पड़ा,
> बॉध तुल्य टूट पडा
> एक साथ ज्वालामुखी गति मे,
> अत्याचार यातना की अति में
> कम्पित अनन्त में दिशाएँ हुई चारों ओर
> गूँज उठा हा हा कार आर्ति-रोर

यहॉ 'हाय-हाय' शब्द अनावश्यक था, परन्तु उसको लाकर एक नवीन शब्द गढ़ा गया "अकम्प काय", सस्कृत भाषा मे 'कंप' सज्ञा है, विशेषण नहीं, 'कम्प' का अर्थ है 'कॅपकपी' 'थरथरी'। विशेषण होगा 'कंपित या 'कंपान्वित'। 'अकम्पकाय' चिन्त्य प्रयोग है और अनावश्यक भी है। यहॉ केवल तुक मिलाने के लिए रख दिया गया है।

एक बात और देखने योग्य है। 'बॉध तुल्य' टूट पडने और 'ज्वालामुखी' तुल्य फट जाने मे कुछ भी समानता नहीं है। दोनों की गति अलग-अलग हैं। दोनों के कर्म भी अलग-अलग हैं। बॉध टूट कर पानी नीचे की भूमि पर आता है। ज्वालामुखी का लावा एक दम ऊँचा जाता है। यहॉ दोनों को एक सूत्र में बॉध दिया गया है। शायद 'पशुत्व का कराल कोप' फूट पडने पर पहले नीचे जाता हो, फिर ऊपर !!!

एक दूसरे छंद में कहते हैं.—

प्राप्त इसे दूर के अतल से
सत्य हरिश्चन्द्र की अटलता,
लब्ध इसे ताराग्रह मंडल से
श्री प्रह्लाद की अनन्त भक्ति-समुज्ज्वलता।
क्रुद्ध कुरुक्षेत्र के समर में
साधा है अकाम ज्ञान कर्मयोग इसने
पुण्यदत्त पाँचजन्य स्वर में
जीवन का पाया है अमर भोग इसने,
भीष्म की अनूठी ब्रह्मचरता
प्राप्त इसे स्वेच्छा मृत्युवरता।

यहाँ 'ब्रह्मचरता' और 'मृत्युवरता' दोनों ही अशुद्ध एवं भद्दे प्रयोग हैं। तत्सम-प्रधान भाषा में बेसुरे हैं सो अलग। भीष्म आजन्म ब्रह्मचारी रहे थे। महात्माजी के लिए उनकी 'ब्रह्मचरता' का संकेत करना निरर्थक नहीं तो क्या है? और 'सत्य हरिश्चन्द्र' कौन थे? 'सत्य हरिश्चन्द्र' तो उस नाटक का नाम है जिसमें सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की कथा बताई गई है। यहाँ 'नाटक' की अटलता से तात्पर्य है या महाराजा हरिश्चन्द्र के सत्य बोलने के दृढ़ व्रत से?

फिर प्रह्लाद की अनन्त भक्ति 'समुज्ज्वलता' ताराग्रह मण्डल से कैसे मिली? कहीं ध्रुव की भक्ति से तो तात्पर्य नहीं है? शायद 'तारामण्डल' और 'ग्रह मंडल' अब मिल चुके हैं। 'फैडरेशन' के इस युग में आकाश में भी 'तारा मण्डल' एवं ग्रहों को मिलाकर नवीन संघ स्थापित किया जा रहा है।

आगे लिखते हैं,—

बुद्ध से मिला है परमार्थ भाग
ईसा से नरानुराग

हिंसा त्याग धीर महावीर के वरद से
दृढ़ता मुहम्मद से,
धौत तुलसी के मानसर से
लाया है पराई पीर नरसी के घर से
टालस्टाय से अधीत
प्रेम प्रतिरोध का समर गीत
शाश्वत गिरा ने दिया राम-नाम
अपना विराम धाम।

यहाँ 'नरानुराग' की तुक मिलाने के लिए 'परमार्थ' में 'भाग' जोड़ा गया है। 'भाग' वास्तव में अनावश्यक है। पढ़ कर ऐसा मालूम होता है कि ईसा से तो पूरा 'नरानुराग' मिल गया परन्तु बुद्ध से पूरा 'परमार्थ' नहीं मिल सका। 'परमार्थ' का एक 'भाग' ही मिल पाया !! फिर, यह समझ में नहीं आता, 'महावीर' को 'वरद' क्यों कहा गया ? क्या वह वरदान देते रहते थे ? केवल 'मुहम्मद' की तुक मिलाने को ही महावीर को 'वरद' बताया गया प्रतीत होता है।

अशुद्ध प्रयोग

इसी प्रकार 'घर से' की तुक मिलाने को तुलसी के 'मानस' को 'तुलसी के मानसर' कर देना पड़ा। हमारी राय में 'धौत' और 'मानसर' दोनों अशुद्ध है। 'धौत' हिन्दी में विशेषण है, संस्कृत में वर्तमान काल बोधक कृदन्त है, जिसका अर्थ धोया हुआ, चमकाया हुआ, चमकीला, सफेद होता है। कवि का भाव 'उज्ज्वलता' प्रतीत होता है। 'मानसर' का अर्थ 'मान सरोवर' है न कि 'रामचरित मानस'। इसी प्रकार 'अधीत' एवं 'विरामधाम' कवि के भावों को व्यक्त करने के लिए सफल नहीं हो रहे। केवल अन्त्यानुप्रास की लहर में लाए गए हैं।

सोचने की बात यह भी है कि जब 'हरिश्चन्द्र की अटलता'

आ चुकी थी तो 'मुहम्मद की दृढता' की क्या आवश्यकता रही ? क्या 'अटलता' और 'दृढ़ता' मे कोई भेद है ?

अस्त-व्यस्त भाषा

अब 'कारागार' को देखकर एक स्थान पर कविवर लिखते हैं –

> पुण्य वह कारागार ?
> अब तो अबन्धन का मुक्तिद्वार
> अंकुरित होकर वहाँ अखेद
> मुक्ति-बीज क्रूर भित्ति भूमि भेद
> फूट पड़ा बाहर है
> लाली लिए ले रहा लहर है
> मृत्यु के निकेत पर जीवन का पुण्य केतु

कवि कहना चाहते हैं कि जेल ही स्वतंत्रता का द्वार है और जेल की भूमि मे ही स्वतंत्रता का बीज अंकुरित होकर फूट पड़ा है। परन्तु छन्द की भाषा से यह भाव और का और हो गया है। 'भित्ति-भूमि' देखने योग्य है। 'भीति की भूमि' का अर्थ क्या होगा ? 'भूमि रूपी भीति' करना पड़ेगा।

'अबन्धन' का अर्थ होगा 'जहाँ बन्धन न हो' अर्थात् 'मुक्ति' फिर 'अबन्धन का मुक्तिद्वार' क्या हुआ ? 'मुक्ति का मुक्तिद्वार' भी शायद कहीं होता होगा !! उसी 'मुक्ति' के 'मुक्तिद्वार' में प्रसन्नता-पूर्वक मुक्ति का बीज कठोर जेल की दीवाल रूपी भूमि को भेदकर बाहर फूट पड़ा है, और मृत्यु के घर पर जीवन की पवित्र ध्वजा लाली लिए लहरा रही है। छंद का अर्थ तो यह हुआ, जो कवि के भाव से बहुत दूर जा पड़ा !!

अब यूक्लिड की भाँति कल्पना कीजिए। 'मुक्ति' के 'मुक्तिद्वार' में 'मुक्ति का बीज' अंकुरित हुआ। जेल के अहाते की भूमि को कल्पना से दूर करके, जेल की दीवालों को भूमि मानिए। जब बीज

फूटता है तो मिट्टी की तह फटती जाती है और अंकुर उठता आता है। यहाँ वह बीज भूमि में ऊपर को नहीं उठता। जेल की दीवारों को छेद कर आर-पार करके बाहर निकल रहा है और बाहर फटने को है। द्वार में तो अंकुरित हो रहा है, मगर दीवारों में सेंध लगाकर बाहर आ रहा है। शायद यह सोचा जाय कि बाहर आकर वही अंकुर लाली लिए लहरावेगा। परन्तु यह बात भी नहीं। अंकुर के स्थान में जीवन का पुण्य-केतु, लाली लिए लहरा रहा है और वह भी जेल में नहीं, जेल की दीवारों पर नहीं, जेल के द्वार में नहीं, और जेल के बाहर भी नहीं, मृत्यु के निकेत पर। शायद फाँसी घर पर॥

कल्पना कितनी उत्कृष्ट रही? और कल्पना में अनौचित्य की मात्रा कितनी अधिक है? 'बापू' में यत्र-तत्र ऐसी ही भाषा और ऐसी ही कल्पना सुगमता से मिल जाती है जिसके कारण कवि के भावों का पता लगाना भी अत्यंत कठिन हो जाता है।

इसी में आगे लिखते हैं :

> जा रहे वहाँ की तीर्थयात्रा हेतु
> लक्ष लक्ष नारी नर
> मंगलेच्छा सब सुखकारी कर,
> धरके तुम्हारे वे चरण चिह्न
> भीति भय छिन्नभिन्न
> साग्रह प्रवेश की चलाचल है
> द्वार वह दीखता खुला-सा अनर्गल है

'भीति' और 'भय' शायद अलग-अलग होते होंगे। इसी प्रकार 'खुला-सा' लिख कर 'अनर्गल' जोड़ा गया है। 'अनर्गल' का अर्थ 'खुला हुआ' ही तो है। अनावश्यक शब्दों की भरमार से भाषा में कोई जान तो नहीं आ पाई। अवश्य, ऐसे पर्यायवाची

शब्दों से यत्र तत्र लय का उतार चढ़ाव तो ठीक हो गया है, परन्तु भाषा अस्त-व्यस्त हो गई है।

यथा –

> दूर हुई एक सग जड़ता
> ढीली पड़ी बन्धन की कर्कश निगड़ता

'निगडता' का अर्थ भी तो 'बन्धन' ही है। 'बन्धन ढीला पडा' कहना तो उचित होगा, किन्तु 'बन्धन का बन्धन ढीला पड़ा' कौन कहेगा ?

(२)

प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि शैली ने एक स्थान पर लिखा है कि मस्तिष्क मे आई हुई कल्पना को भाषा में व्यक्त कर देना ही कविता है। इस मत से पूर्ण रूपेण सहमत होना कठिन है, किन्तु यह तो सभी स्वीकार करते है कि कल्पना कवि का एक विशेष गुण है। कल्पना के सहारे कवि-प्रतिभा का विकास होता है। जितना बड़ा कवि होगा उसके काव्य में कल्पना की उड़ान उतनी ही ऊँची होगी। कवि वास्तव मे अपने मनोवेगों की स्थिति का चित्रण करता है। हृदय मे जब भावों के हिल्लोल उठने लगते हैं तब कवि के समक्ष अनेकानेक कल्पनाएँ रूपक, उपमा, मानवीकरण के रूप में अनायास ही आने लगती है। उस समय कवि को यह देखना आवश्यक हो जाता है कि वे कल्पनाएँ असंगत और अस्वाभाविक तो नहीं हैं। उस समय उन कल्पनाओं को भाषा मे व्यक्त करने के पहले उसे कुछ ऐसे शब्द-चयन पर भी ध्यान रखना आवश्यक है जो मौलिक हो] ए भी भावों को पाठक के हृदय के अंतर्गत प्रदेश मे पहुँचाने में समर्थ हो सकें।

आजकल पश्चिमी मूर्त्त-विधान की शैली पर मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण अथवा मानवीकरण बहुत चलने लगा है, किन्तु मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण

की मर्यादा पर कम ध्यान दिया जाता है। हम यह भूल जाते हैं कि सन् १६१२ ई० मे जब एजरा पाउंड, रिचार्ड एलिंडगटन और एफ एस फ्लिन्ट ने 'इमैजिस्ट' स्कूल की स्थापना की थी तब जो तीन सिद्धान्त स्वीकृत किए थे उनमे एक सिद्धान्त यह भी था कि एक भी शब्द ऐसा प्रयोग न किया जाय जो व्यर्थ अथवा अनावश्यक हो। "To use absolutely no woid that does not contiibute to the piesentation"

हमारे शास्त्रो मे भी 'शब्द' और 'अर्थ' तराजू के दो पलडे बताए है और आदेश यह है कि 'शब्द' का पलड़ा कभी भारी न होने पावे। इस आदेश पर आजकल बहुत ही कम ध्यान दिया जा रहा है।

जो कल्पना मस्तिष्क में आवे उसे किसी भाषा में अस्पष्ट रूप से लिख देने से कोई कवि बडा नहीं हो पाया। बडे कवियों के लिए थोड़े से 'स्वकीय नियंत्रण' की आवश्यकता है। हमारे यहाॅ अर्थ की स्पष्टता को भी अत्यधिक महत्व दिया गया है। प्रसाद गुण सभी रचनाओं के लिए आवश्यक माना गया है। जिस प्रकार सूखे ईंधन मे अग्नि और स्वच्छ वस्त्र मे जल व्याप्त हो जाता है, उसी भाॅति पाठक के चित्त में छंद के अर्थ का प्रकाश हो जाना चाहिए।

'बापू' में कल्पना की उड़ान कहीं-कहीं अवश्य ऊँची है। एक स्थान पर भविष्य में आने वाली शताब्दियों को मूर्तिवती मानकर गांधीजी को देखने को उत्सुक बताया है—

"आगे की शताब्दियाॅ गवाक्ष खोल,
विलग भविष्य के निकेतन में
आगे झुक विस्मृत दृगी अलोल
ध्यान निज लाकर श्रवण म
कुछ सुनती हैं—"बड़ी दूर वहाॅ
कुछ गुनती हैं—बड़ी दूर वहाॅ"

बोल रहा कौन वह जन है ?
खोल रहा अन्तर कपाट यहाँ
कौन वह, कौन महज्जन है ?"

अवश्य ही यह कल्पना ऊँची है, परन्तु ऐसी ही शब्द-योजना सब स्थान पर नहीं रही। कहीं-कहीं समझने में कोषों की शरण लेनी पड़ती है और फिर भी अर्थ समझने में सदिग्धता बनी रहती है। कहीं-कहीं वैसी ही निराशा बनी रहती है जैसी निराशा नारियल की जटा हटाकर कड़ा कोष तोड़कर भी नीचे की गिरी न मिलने पर, या बुरी मिलने पर होती है।

एक स्थान पर कवि का भाव यह है कि गाधीजी अनंत यौवन-शाली है और उस यौवन में आत्म-साधना की प्रेरणा है, वासना की नहीं, किन्तु भाषा किसी दूसरी ओर ही चलती चली गई है। लिखते है —

श्रेष्ठ रथि, तुम हे अरुद्ध आत्मरथ के
यात्री हो, अनन्त काल पथ के
नित्य के अनंग की अरुणिमा
आकर तुम्हारी हुई अपनी तरुणिमा ;
उस परिणीता से,
पुण्य की प्रतीति भरी प्रीता से
वय की दुरन्त झकझोर झोर
छुड़वा सकी कहाँ तुम्हारा छोर ?
प्रियता, अतन्द्र प्रेम-प्रियता,
वह है तुम्हारी क्रिया क्रियता
अहरह सर्व काल ।

'आत्म रथ' शायद 'आत्मा रूपी रथ' को कहते होंगे। 'आत्म ज्ञान' तो ब्रह्मज्ञान अथवा आत्मा का ज्ञान होता है। परन्तु 'आत्म

कल्याण' 'आत्म गौरव' 'आत्म घात' मे 'स्वकीय' या 'अपने' का भाव निहित है।

यहाँ 'अपना रथ' न लेकर 'आत्मारूपी रथ' लिया गया है। सूर्य भगवान जैसे अपने रथ मे चलते है वैसी ही कल्पना आत्मा रूपी रथ चलाने की की गई है। सूर्य के सारथी अरुण हैं, परन्तु यहाँ स्वयं ही रथ हाँकने का भाव है। इसीलिए 'श्रेष्ठ रथि' कहा गया है। आत्मा रूपी रथ अरुद्ध है इसकी गति रुकती नहीं। यह चलता ही जाता है, इसीलिए अनन्तकाल पथ के यात्री बताया गया। आत्म साधना का कितना विकट रूप है? साधना के लिए आत्मरथ चलता ही रहना चाहिए।

अब 'अरुणिमा' और 'तरुणिमा' की जोडी पर ध्यान देने की आवश्यकता है। 'आत्म साधना' और अनंग का संबंध दिखाना यहाँ व्यर्थ था। चिरंतन कामदेव (नित्य के अनग) बिना शरीर के हैं उनकी अरुणिमा महात्माजी का यौवन कैसे बन जायगी? परन्तु निरंतर गतिशील सूर्य के रथ का दृश्य कवि के सम्मुख था। वहाँ 'अरुण' रथ को हाँकता है, तो 'अरुणिमा' (अरुण की स्त्री) को भी कही न कहीं खींचे बिना कल्पना अधूरी ही रह जाती। और 'अरुणिमा' आई तो 'तरुणिमा' शब्द गढ़कर तुक मिलाना आवश्यक हो गया।

जैसा हमने ऊपर लिखा है, कवि का भाव केवल यह है कि आत्म-साधना की प्रेरणा से महात्माजी अनन्त यौवनशाली हो गए हैं, किन्तु भाषा कुछ और ही हो गई है। 'अनंग', 'अरुणिमा', 'तरुणिमा', 'परिणीता'– शब्द लाकर संकेत स्पष्ट रूप से वासना की ओर हो जाता है। भाषा भावों को ठीक-ठीक व्यक्त करने मे असफल ही नहीं रही, यहाँ भावों के प्रतिकूल भी चल रही है।

अब 'परिणीता' कौन है? अनंग की 'अरुणिमा'? या पुण्य की विश्वास भरी प्रीता? 'प्रीति' का अर्थ 'अनुराग' है और

कामदेव की स्त्री (रति की सौत) का नाम भी 'प्रीति' है। पता नहीं यहाँ 'प्रीता' से क्या तात्पर्य है ? 'प्रियता' और 'क्रियता' की जोड़ी भी कम रोचक नहीं। कवि कहते है—

'निरालस्य' प्रेम की प्रियता तुम्हारी क्रिया क्रियता हो गई है।' प्रिय शब्द से 'प्रियता' (प्रिय होने का भाव) तो शुद्ध ही है, परन्तु 'क्रिया' तो स्वयं संज्ञा है। 'क्रिया' से क्रियता' कैसे हो जायगी। संस्कृत भाषा मे 'क्रिय' का अर्थ 'मेष राशि है, परन्तु 'क्रिय' से भी 'क्रियता' का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। छन्द की भाषा का अर्थ करना असभव है। प्रेम की प्रियता किसी की क्रिया क्रियता बन ही कैसे जायगी ?

'बापू' मे इससे भी कठिन छंद भरे पड़े हैं। इससे भी अधिक असगति और अस्वाभाविक कल्पनाऍ अन्य छन्दों में सुगमता से मिल जाती है।

सन्दिग्ध वातावरण

कठिन छंदो को छोड़कर अब हम ऐसे मुक्तक (उन्नीसवे गीत) को लेते है जिसकी अत्यधिक प्रशंसा की गई है और जिसकी भाषा भी बोधगम्य है। भाषा-प्रवाह सुन्दर होने के अतिरिक्त संसार मे इस समय लगी हुई अग्नि का अच्छा वर्णन है। मानवीकरण अलकार और अध्यवसित रूपक के अतिरिक्त भय, शोक, विषाद, विस्मय, इत्यादि भावों का दिग्दर्शन भी होता है। लिखा है—

धधक उठी है अरे, धधक उठी है आग ?
एक साथ सुप्ति त्याग
प्रखर प्रतक्षण क्षण क्षण मे
क्षुब्ध होरही है समुच्चालित समीरण मे
धाम वह धॉय धॉय
धूम का गुँगाटा भरे भॉय भॉय

सन्न निरुपाय खड़े जन हैं
भय से विषण्ण मन, दाह दग्ध तन हैं

× × ×

चीर कर अन्तर सा
प्रज्ज्वलन्त ज्वाला की लहर का
सहसा सुनाई पड़ा माता का व्यथित रोर
कोमल में तीव्र घोर—
"भीतर कहाँ है अरे मेरा लाल, मेरा लाल!"
सब अवसन्न से निमेष काल
'मेरा लाल!' व्योम में ध्वनित था,
"मेरा लाल, मेरा लाल" वायु में स्वनित था
सबके उरों में वहाँ "मेरा लाल!"
सबके सुरों में वही "मेरा लाल, मेरा लाल!"

अब बताते हैं कि यह माता विश्व-माता ही है। विश्व भर में आग लग रही है। भारत विश्वमाता का लाल है जो जलने वाला है। उसको बचाने सहसा कोई आ जाता है। लिखते हैं—

माता! यह माता विश्वमाता है।
इसके हृदय बीच उमड़ा सा आता है
दुःख, शोक, ताप विश्व भर का
इसका प्रदाह नहीं भीतर के स्तर का
दीख सके मान एक क्षण को
म्लान, हततेज इस गेह का दहन हो!
दृष्टि में करालोन्माद,
भाल पर भासित महा विषाद
वेणी-बन्धमुक्त, पड़ा झुलसा
वस्त्र तन मध्य कहीं उलझा

हष्टियाँ झँपाती हुई
सारा वायुमण्डल कँपाती हुई
दीख पड़ी विद्युत की एक ही चमक सी
प्रज्वलन राग की गमक सी
क्षण मे अदृश्य हुई ज्वालित सदन में
अन्तरित तब भी अदर्शन में
गूँजा स्वर तत्क्षण बिना विलम्ब—
"धीरज न खोओ अम्ब ! धीरज न खोओ अम्ब !"
और कोई माता का नवीन लाल
भारी भीड़ मे से निज को निकाल
धावित था माता के चरण चिह्न धरके,
गति मे दुरन्त वेग भरके !

× × ×

'भीत न हो, भीत न हो डर से"
उसका पुनीताह्वान आरहा है भीतर से
'धाम यह विस्तृत है धूम मय
भीतर नहीं है अभी वैसा भय"
छिन्न कर भीति जाल
'आओ तो, निकाल ल, कहाँ है वह माँ का लाल ?"

× × ×

धाँय, अब भी है वह धाँय धाँय,
धूम का गुंगाटा भरे भाँय भाँय,
सब निरुपाय खड़े देख रहे जन हैं।
भय से विपण्ण मन दाह दग्ध तन हैं
सबकी पुकार है यही हे राम !
"अक्षत ही लौटे वह होकर सफल काम !"

स्पष्टत 'माता का नवीन लाल', महात्माजी हैं, जो जलती आग मे, भारतवर्ष को बचाने के लिए, यकायक कूद पडे है। भाव भी अच्छे है, भाषा भी अच्छी है। अलंकार भी आ गये हैं। परन्तु एक बात रह रह कर खटकती है। क्या यह सारी कल्पना अनुचित नहीं है? क्या वृद्ध भारतवर्ष इतना नन्हा लाल होगा जितना गीत मे दिखाया गया है? क्या बापू को उस नन्हे लाल का बड़ा भाई बता देना ठीक है॥

जिस आलोचक ने जैसा जब चाहा उसने 'मेरे लाल' की वैसी ही कल्पना कर ली है। एक ने लिखा 'लाल' मानवता है। यदि मानवता ही एक 'लाल' है तो विश्व-माता का दूसरा 'लाल' इसी मानवता का ही तो एक 'लाल' हुआ। मानवता और एक मानव दोनों को समवयस्क बताना और भी अनुचित है। एक अन्य आलोचक ने लिखा, यहा भारत माता को ही विश्व-माता बताया गया है। यदि यही बात ठीक मानें तो जलते हुए घर मे भारत माता का कौन सा लाल रह गया था? यदि भारतवर्ष आग मे जल रहा था तो 'बापू' भी तो उसी आग के बीच रहे होंगे, बाहर कहाँ से आकर कूदे होंगे? वास्तव मे कवि ने सारा वातावरण सदिग्ध बनाकर छोड़ दिया है। आवेग मे जैसी कल्पना सामने आई बिना मनन किये वैसी की वैसी ही रख दी है। पढ़ने पर बोध होता है कि विश्व-माता का एक 'लाल' तो देश भारत है, दूसरा लाल चीन, ईरान, मिश्र, रूस, अमरीका देश न होकर, पहले देश भारत का ही एक मनुष्य है। विश्व-माता का एक 'लाल' तो भारत देश और दूसरा लाल, भारत का एक पुत्र।

सारी कल्पना असगत एवं अस्वाभाविक है। प्रथम तो गीत की भाषा ही सन्दिग्ध है, दूसरे जो कुछ भी अर्थ ले, उस अर्थ से वह गीत अनौचित्य की पराकाष्ठा का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रतीत होता है।

अवश्य, कविवर ने जो कुछ लिखा है वह एक अनन्य भक्त की भावना से प्रेरित होकर ही लिखा है। प्राणि मात्र मे सत्य और अहिंसा का प्रचार करने वाला, ससार का महान् व्यक्ति अटूट श्रद्धा एव अनन्य भक्ति का पात्र होता है। ऐसे महात्मा का यशोगान करने में भक्त कवि अपने भावों के प्रदर्शन मे यदि अनुचित बातें भी लिखें, तो भी क्षम्य है। भक्त तो अपनी भावना के अनुसार ही प्रभु को देखता है। श्री सियारामशरणजी के लिये तो महात्माजी एक विराट् तीर्थ थे। उस तीर्थ के विपुल सलिल से, दूसरों को पिलाने के लिये, उन्होंने अपनी छोटी-सी गगरी भर ली है। उसके थोडे से यशोगान से अपनी छोटी-सी रचना पूरी कर ली है। विराट् तीर्थ के विपुल सलिल की गहराई मे वे नहीं पहुँच सके हैं, किन्तु यह छोटी सी गगरी ही उनकी तृप्ति-पिपासा को शान्त करने के लिये पर्याप्त है। अपनी इस कृति से उन्हें संतोष है। इन भावो से प्रेरित होता हुआ 'बापू' का अतिम गीत सुगेय है। इसकी स्वर-लहरी से भक्त-हृदय झनझना उठता बताया गया है। इसलिए यह अन्तिम गीत यहाँ अविकल उद्धृत किया जाता है। लिखा है —

तरे तीर्थ सलिल से प्रभु हे !
मेरी गगरी भरी भरी,
कल कल्लोलित धारा पाकर
तर पर ही यह तरी तरी।

तेरे क्षीरोदधि का पदतल
जहाँ शान्ति लक्ष्मी है अविचल,
फुल्लित फलित जहाँ मुक्ताफल
नहीं ला सकी पहुँच वहाँ की
पुण्य सुधा कल्याण करी

तरे तीर्थ सलिल से प्रभु हे !
मेरी गगरी भरी भरी ।

पाया पा सकती थी जितना
अधिक और भरती यह कितना ?
कम क्या, कम क्या, कम क्या इतना ?
गहरी नहीं जा सकी तब भी
तृप्ति पिपासा हरी हरी

तरे तीर्थ सलिल से प्रभु हे !
मेरी गगरी भरी भरी ।

कवि के भाव बड़े अच्छे हैं, इसमें किंचित् भी संशय नहीं है। किन्तु भाषा भटक रही है। 'भरी भरी', 'तरी तरी' 'हरी हरी' 'कम क्या कम क्या, कम क्या', इत्यादि पुनरावृत्तियाँ अनावश्यक है। बार-बार शब्दों को दुहराने से भाषा मे जोर नहीं आ पाया। हम यह नहीं समझ सकते कि 'तट पर ही यह तरी तरी' क्या अर्थ करें ? बात गगरी भरने की कही जा रही है, भाव यह है कि तट पर से ही गगरी भर ली है, किन्तु अर्थ अब यह होगा कि "किनारे पर ही मेरी तरी (नाव) तर गई।" नाव और गगरी मे सम्बन्ध कैसे स्थापित हो सकेगा ? नाव आ कहाँ से गई ? उत्तर, सिवाय इसके कुछ नहीं कि 'भरी भरी' की तुक मिलाने के लिए अनावश्यक शब्द 'तरी तरी' लाने पड़े। यह सोचने का समय कहाँ कि गगरी के साथ नाव बताना ठीक नहीं। नाव तट पर ही तिर कैसे सकती है ? तट पर 'तरी' में बैठ कर गगरी भरना और भी अनुचित है ?

कहना यह है कि विराट् तीर्थ-सलिल की गहराई में जाकर पुण्य-सुधा नहीं ला पाये। उसके लिए तीर्थ-सागर को क्षीर सागर बता देना कहाँ तक उचित है ? 'क्षीरोदधि का पद तल' क्या होता है ? 'पद तल' अधिक से अधिक किसी छोर को कह सकते हैं।

यदि गहराई ही ले तो क्या क्षीर-सागर की गहराई में लक्ष्मी ऊपर आई थीं। क्या समुद्र की गहराई मे फिर पहुँच कर लक्ष्मी अविचल हो गई? कवि के चित्त में तो वास्तव में क्षीर-सागर में लेटे हुए विष्णु भगवान् के पदतल के पास बैठी हुई शान्त लक्ष्मीजी की मूर्ति बसी हुई है। किन्तु उस मूर्ति का वर्णन भाषा मे नहीं कर सके। बोध यह होता है कि समुद्र से निकली हुई लक्ष्मी फिर समुद्र की गहराई मे पहुँच कर अपना चंचल स्वभाव छोड़ चुकी है॥

अब कवि के अनुसार, समुद्र की गहराई में, क्षीर-सागर की गहराई मे, विशेष कर मोती के वृक्ष होते है जिनमे फूल आते और फल लगते है। इसलिए वह कहते है "फुल्लित फलित जहाँ मुक्ताफल!" मोती कहाँ फूले और फले होंगे? सीप अवश्य फूलती है, किन्तु उसमे भी फूल नहीं आते और न फल ही आते है। संस्कृत भाषा में 'मुक्ता' और 'मुक्ताफल' दोनों शब्द 'मोती' के लिए व्यवहृत होते है, 'मुक्ता' स्त्रीलिंग है, 'मुक्ताफल' नपुंसक लिंग। संस्कृत भाषा में 'फल' का अर्थ केवल वृक्षों के फलों के लिए ही सीमित नहीं है। उसका विस्तृत क्षेत्र है जो 'योग फल', 'गुणन फल' शब्दों से समझा जाता है। केवल 'मुक्ता फल' शब्द से ही मोतियों का फलना और फूलना लिख देना उचित नहीं है। 'तृप्ति पिपासा हरी हरी' भी संदेह में ले जाने को उद्यत है। 'तृप्ति' और 'पिपासा' में विरोध है। यहाँ अर्थ करना होगा कि आत्म शक्ति की अर्थात् आत्मा की शान्त करने की पिपासा हर ली गई। यानी आत्मा शान्त हो गई। 'हरी हरी' का अर्थ होगा 'हर ली गई'। किन्तु यह अर्थ भक्ति भावना के प्रतिकूल होगा, क्योंकि भक्त तो प्रभु का गुण-गान बारम्बार करता है। उसे एक बार मे तृप्ति हो कैसे सकती है? 'मानस' में कहा है कि—

राम कथा जो सुनत अघाहीं।
रस विशेष पाया तिन नाहीं॥

इसलिए अर्थ करना होगा कि 'तृप्ति पिपासा' फिर भी ताजी, हटकी (हरी) बनी हुई है। यह अर्थ कवि के गगरी भर लेने के भावों के प्रतिकूल होता है॥

पता नहीं कवि को कौन सा भाव रुचिकर प्रतीत होगा? कवि ने तो 'भरी भरी' 'तरी तरी' 'हरी हरी' लिख कर अन्त्यानुप्रास और पाद पूर्ति का कठिन कार्य पूरा कर दिया। पाठक जैसा चाहे वैसा अर्थ करते रहें॥

यदि भाषा की यह व्यवस्था दो एक गीत में ही होती तो हमें कुछ भी लिखने की आवश्यकता नहीं थी, किन्तु जहां पग पग पर दुरूह समास, क्लिष्ट सधिज शब्द और अशुद्ध प्रयोग अर्थ का अनर्थ करते चले जा रहे हैं, वहाँ मौन धारण करना क्षम्य नहीं है।

जिस खड़ी बोली की कविता के मार्ग को स्वर्गीय पं० महावीर प्रसादजी द्विवेदी ने निश्चित और परिमार्जित करने का अत्यधिक प्रयत्न किया था, वही खड़ी बोली की कविता 'बापू' में आकर सदिग्धता, क्लिष्टता, जटिलता और अनौचित्य के भॅवरों में पड़कर बुरी तरह डॉवाडोल हो रही है।

अधिक न लिखकर 'बापू' के अन्तिम गीत के राग में राग मिलाकर, उसी गीत की भाषा मे लिखे हुए एक छंद को उद्धृत करके हम अपने लेख को समाप्त करते हैं:—

'बापू' पढ कर देखी,
हिन्दी की यह बोली खड़ी खड़ी॥
कूट, जटिल, संदिग्ध पदों से,
अथ से इति तक कड़ी—कड़ी॥
कैसा क्षीरोदधि का पदतल?
कहाँ पहुँच होती श्री अविचल?
फूले फले कहाँ मुक्ताफल?

नहीं पहुँचती बुद्धि यहाँ तक,
असहयोग कर रही अड़ी।
'बापू' पढ कर देखो—
हिन्दी की यह बोली खड़ी खड़ी !!

पढा, आज पढ सकता जितना,
अधिक और पढता मै कितना ?
कुछ तो समझा, कम क्या इतना ?

अर्थ अनर्थ हो रहा इससे
कहता भाषा हड़ी हड़ी !!
'बापू' पढ कर देखो—
हिन्दी की, यह बोली खड़ी खड़ी !!

श्री मोहनलाल महतो 'वियोगी' का 'आर्यावर्त'

(१)

विहार के प्रसिद्ध कवि प० मोहनलाल महतो 'वियोगी' ने पहले भी 'निर्माल्य एवं 'एकतारा' सरीखी सुन्दर रचनाएँ हिन्दी साहित्य को प्रदान की है। 'आर्यावर्त' लिख कर उनकी कवि-प्रतिभा और भी अधिक प्रस्फुटित हुई है। हिन्दी भाषा में यह अमित्राक्षर छन्द मे सर्व प्रथम महा काव्य बताया जाता है।

कथानक

तेरह सर्गों मे, अतुकान्त मुक्त छन्दों मे इस महा काव्य में 'पृथ्वीराज रासो' का कुछ हेर-फेर के साथ नवीन राष्ट्रीय चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया गया है। महाराज पृथ्वीराज की पराजय के अनन्तर दो प्रसिद्ध शूरवीर आहत श्रान्त एवं क्लान्त योद्धा महाकवि चंद एवं राणा समरसी एक देवी मंदिर में मिल कर युद्ध-वर्णन करते हैं। उधर राजा जयचद के सामने शहाबुद्दीन गोरी पराजित एवं बन्दी महाराज पृथ्वीराज की आँखें निकलवाता है और उनको अन्धा कर देता है। कवि चंद दिल्ली आकर महा-राणी संयोगिता से पराजय का हाल निवेदन कर दूसरे युद्ध के लिये प्रार्थना करते है। इस युद्ध मे महाराणी संयोगिता के सेना-पतित्व में सारे भारत के नरेन्द्र युद्ध के लिये आते हैं। महाराणी संयोगिता अपने पिता राजा जयचन्द्र को पत्र भेजती है। देशद्रोह के पाप के प्रायश्चित स्वरूप राजा जयचन्द्र देशभक्त बन कर युद्ध के लिये आते है। भीषण युद्ध मे राजा जयचद मारे जाते है और आर्य-सेना की विजय होते ही शहाबुद्दीन गोरी भाग जाता है। युद्ध के पूर्व ही बन्दी एवं अन्धे पृथ्वीराज गजनी भेज दिये जाते हैं।

कविचन्द मुसलमान फकीर शाह का भेप बना कर महाराज पृथ्वीराज से मिलने गजनी जाते है। वहाँ 'शाह' नामधारी कवि चन्द के चमत्कार देखकर मुसलमान प्रजा मुग्ध हो जाती है और वहाँ का वजीर सुलतान शहाबुद्दीन गोरी को इस करामात की खबर देता है। सुलतान जाकर फकीर शाह के पैरों पर लोट कर भारतवर्ष पर विजय प्राप्त करने के लिये विजय यात्रा का मुहूर्त वगैरा पूछते हैं। शाह कहते हैं कि पहले कैदी पृथ्वीराज का भाग्यलिपि देख लूँ तब कुछ बता सकूँगा। इस बहाने फकीर बने महाकवि चन्द कैदखाने में महाराज पृथ्वीराज से मिलते है और शहाबुद्दीन गोरी के मारने की व्यवस्था कर जाते है।

वापिस आकर 'शाह' फकीर सुलतान गोरी से कहते है कि भारत पर चढ़ाई करने के पहले पृथ्वीराज से धनुर्विद्या तो सीख लो। यह भी कहते हैं कि मन-मन भर के ७ लोहे के तवों को अन्धे पृथ्वीराज शब्दभेदी बाण द्वारा तोड़ सकते है। सुलतान सहमत होकर पृथ्वीराज का वह कौशल जनता को दिखाने को उद्यत होता है। अशान्त जन समूह के बीच उच्च मडप मे बैठे गोरी की आज्ञा से पृथ्वीराज के हाथों मे जयचन्द से उपहार मे मिला हुआ धनुष दिया जाता है। प्रत्यंचा चढ़ाकर पृथ्वीराज ऐसा बाण मारते है कि सातों तवे तड़ा तड़ टूट-फूट जाते है। सुलतान के मुँह से "वाह वाह" शब्द निकलते ही दूसरे बाण से पृथ्वीराज सुलतान को भी मार डालते हैं, और शाह (महाकवि चन्द) और महाराज पृथ्वी-राज आपस मे तलवार द्वारा कट मरते हैं।

'आर्यावर्त' की कथा इतनी ही है। परन्तु कहने का ढग अपूर्व है, भाषा प्रवाह भी बड़ा ही अच्छा है।

अनैतिहासिकता

जो बात खटकती है वह है 'आर्यावर्त' की अनैतिहासिकता। हम यह मानने को तैयार नहीं है कि काव्य का सत्य एक भिन्न

प्रकार का सत्य हुआ करता है। कवि को यह अधिकार नहीं है कि ऐतिहासिक असत्य की कल्पना करके उसकी नींव पर अपने काव्य की भित्ति खडी करने का आयोजन करे। अगर कवि ऐसा करता है तो वह अनधिकार चेष्टा है और प्राचीन काव्य शास्त्र के अनुसार वह काव्य-दोष माना गया है। काव्य शास्त्र मे पुराण और इतिहास को सुरक्षित रखना भी कवि का एक कर्तव्य बताया गया है। प्राचीन भारतवर्ष का इतिहास अभी तक अधकार से पूर्णत बाहर आने का गोरव प्राप्त नहीं कर सका है। ऐसी परिस्थिति मे यदि कवि ऐतिहासिक गुत्थियों को सुलझाने का प्रयत्न नहीं कर सकते तो कम से कम यह गुत्थियाँ उलझाने का प्रयत्न तो उनको न करना चाहिये। इतिहास इस बात का साक्षी है कि महारानी सयोगिता के अधीन न तो कोई सेना गोरी से लडी थी और न राजा जयचद किसी राष्ट्रीय सेना मे सम्मिलित ही हुए थे। महाराज पृथ्वीराज के पराजय के अनन्तर पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज को सुलतान शहाबुद्दीन गोरी ने अजमेर की गद्दी पर बिठा दिया था। उस समय जिस व्यक्ति ने राष्ट्रीय भावना का परिचय दिया था वह पृथ्वीराज का भाई हरिराज था जिसने विदेशी सुलतान के अधीनस्थ गोविंदराज का राजा होना स्वीकार नहीं किया था और थोडे दिन बाद गोविंदराज से उसने अजमेर की गद्दी छीन ली और वि० स० १२५० (ई० सन् ११९३) मे शहाबुद्दीन के सेनापति कुतुबुद्दीन ने हरिराज के सेनापति चतरराय को हराकर दिल्ली छीन ली और वि० सवत् १२५२ में अजमेर भी छीन लिया था। इसी दरमियान मे राजा जयचंद से कन्नोज का राज्य भी छिन गया था, और राजा जयचद दिल्ली से दूर चदवार के पास लडते लड़ते मारे गये थे। यदि हरिराज और राजा जयचंद एक हो जाते तो कोई विदेशी सत्ता ऐसी नहीं थी जो सम्मिलित शक्ति को इस प्रकार नष्ट भ्रष्ट कर सकती। यदि परस्पर फूट न होती तो भारत का भाग्य-सितारा कुछ और ही हुआ होता।

ऐतिहासिक तथ्य के आधार पर संयोगिता के स्थान पर हरिराज को सेनापति बनाकर 'आर्यावर्त' का कवि नवीन भारतीय राष्ट्रीय शक्ति दिखा सकता था और राजा जयचंद की अलग रहने की नीति पर आक्षेप करते हुए भाई-भाई की फूट द्वारा भीषण कुपरिणाम—आर्यावर्त का पतन—दिखलाकर भविष्य के लिये एकत्र शक्ति पर जोर देकर कविता मे नवीन जीवन फूँक सकता था।

कवि ने एक अच्छा अवसर हाथ से जाने दिया, इसका खेद है। ऐतिहासिक असत्य के आधार पर जो काव्य-भवन निर्माण किया गया है उसकी नीव दृढ़ हो नहीं सकती। वह काव्य किस प्रकार हृदयग्राही हो सकता है जो प्रारभ से अत तक असत्य पर निर्धारित हो। जिस काव्य मे भगवान राम पर यह दोष लगाया गया हो कि उन्होंने मन्दोदरी का हरण किया और जो काव्य यह बताता हो कि लक्ष्मण रावण से मिल गये थे वे काव्य कितनी ही ओजस्वी भाषा मे लिखे जायॅ, कभी भी पाठकों के हृदय को पूर्णत प्रभावित नहीं कर सकते। ऐतिहासिक तथ्य का आधार लेना आवश्यक है, इस दृष्टि से 'आर्यावर्त' का साहित्यिक मूल्य अवश्य कम होगया है।

ओजपूर्ण काव्य

फिर भी, 'आर्यावर्त्त' अत्यन्त ओजपूर्ण काव्य है। भाषा-प्रवाह एवं प्रबन्ध-सौष्ठव भी प्रारम्भ से अन्त तक सुरक्षित रहा है। आर्य जाति की महत्ता एवं राष्ट्रीयता की भावना से तो यह काव्य ओत-प्रोत ही है।

राणा समरसी का देहान्त होने के अनंतर देवी के मंदिर में महाकवि चंद आते है और देखते हैं कि देवी के चरणों में समरसी लिपटे पड़े हैं। इस समय कवि के भाव एवं भाषा ध्यान देने योग्य है। कवि लिखता है:…… ..

एक आघात लगा
कवि के हृदय को
किन्तु सहा उसने
कठोरता से वज्र को।
क्षण भर स्तब्ध रहा
चंद हतप्राण सा
फिर अट्टहास कर
बैठ गया, हाय रे,
मानव है कोमल
सिरिस फूल से भी किन्तु
वज्र से भी कठिन
हृदय दिया विधि ने।
जिन नयनों से
करुणा की सुरधुनि दिव्य
फूट पड़ती है,
उन्हीं आँखों से प्रलय की
ज्वाला सर्व ग्रासिनी
विभासिनी भड़कती।
बोला कवि चंद—
'हे नृमुण्डमाल धारिणी
जन प्रति पालिनी
हे स्ववश विहारिणी
मातः किस दोष से
हुई हो रुष्ट इतना
इस स्वर्ण देश को
यों मरघट बना दिया
सर्पिणी सी निज
सन्तान को चबाती हुई

हाय, "जगदम्बा" का
लजाया पद तुमने !!!
कर सकती जो नहीं
त्राण आर्त-जन का तो
धारण किया है क्यों
कृपाण तूने कर मे
बोल बोल चंडी,
बोल महिष–विदारणी !
डूबती है लाज आज
तेरे करवाल की !

भाषाप्रवाह आदि से अन्त तक ऐसा ही चला गया है। एक बार काव्य उठाकर प्रारम्भ किया तो अन्त तक उसका जादू पीछा नहीं छोड़ता। भाषा की प्रशसा जितनी की जाय थोड़ी है।

काव्य के प्रारंभ मे विद्वद्वर प० रामदहिन जी मिश्र की ५५ पृष्ठ की बृहत् समालोचना है जिसमें "आर्यावत" की राष्ट्रीयता, हिन्दू-मुस्लिम-सद्भाव, ध्वनि व्यजना, प्रकृति-पर्यवेक्षण, रस-चमत्कार, अलंकार, भाव-साम्य, एवं 'आर्यावर्त' के भावपूर्ण स्थलों पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश डाला गया है।

इस समालोचना के अधिकांश से पाठक सहमत होंगे। अवश्य, कहीं कहीं प्रतीत यह होता है कि भाषा-सौष्ठव एवं भाषा-प्रवाह ने विद्वद्वर मिश्र जी को इतना आनन्द-विभोर कर दिया है कि प्रत्यक्ष काव्य दोषों को भी गुणों में परिवर्तित करने का वे प्रयत्न करते चले गये है।

एक दो उदाहरण देने अनुचित न होंगे। बन्दी महाराज पृथ्वीराज को शब्द भेदी वाण का कौशल दिखलाने के लिये गजनी के महल मे लाया जाता है। हाथी पर बैठे महाराज जब रास्ते से आते है तो जनता के उस समय के हृदय के भाव कवि ने बड़ी खूबी के साथ दिखलाए है। कवि कहते है'—

साचा जनता ने
आह, गौरव है कितना
होना प्रजा ऐसे
देव तुल्य नरनाह की
सोचा सैनिकों ने
धन्य भाग्य उस सेना का
होगी जो अधीन
ऐसे सिंह सेनानी के
सोचा वृद्धों ने—
'बड़े पुण्य से ही अन्त मे
प्राप्त होता है जल
ऐसे पुत्र रत्न का'
सोचा युवकों ने—
'यदि नेता मिले ऐसा तो
ठोकरों से धूल मे
मिलादें ब्रह्माण्ड को।'

इन पंक्तियों को उद्धृत करते हुए विद्वद्वर्य मिश्र जी लिखते हैं , -

'जनता सैनिक, वृद्ध और युवकों ने जो-जो सोचा है वह उन सबों के लिये यथा-योग्य ही है। इसी से तो कहा गया है कि, 'चकास्ति योग्ये नहि योग्य संगम ।' योग्य से योग्य का संगम ही शोभाशाली होता है, कौन नहीं ऐसे नर-रत्न को पाकर अपनी मनमानी सोच सकता है। यह उद्धरण उल्लेख अलंकार के कैसे सुन्दर उदाहरण है ॥'

'आर्यावर्त के कवि एव आलोचक दोनों भूल गये कि, वास्तव मे, गजनी की मुसलमान जनता के हृदय के भावों का यहाँ वर्णन किया जा रहा है और यह वर्णन उस समय का है जब इस्लाम मे नया जोश छाया हुआ था। इस्लाम मजहब को आये हुए इस

ससार में मुश्किल से चार सौ-पाँच सौ वर्ष हुए थे। उस समय वहाँ अवश्य ही हिन्दुओं की तरह मृत बाप को बेटा पानी देता होगा। और अंत मे यह पानी मिलना वहाँ अवश्य ही पुण्य माना जाता होगा॥ तभी बुड्ढे-बुड्ढे मौलानाओ ने सोचा होगा कि पृथ्वीराज सरीखे पुत्र-रत्न का दिया हुआ पानी बड़े पुण्य से मिलता है। तभी 'हिन्दू राष्ट्र सेवा सघ' की तरह नवयुवक मुसलमानों ने सोचा होगा कि, पृथ्वीराज के नेतृत्व मे 'अखण्ड' को भी ठोकरों से मिटा देगे॥ और मूर्तिपूजक ही की तरह एक देवमूर्ति 'तोडक' गजनी की मुसलमान जनता ने 'देवतुल्य नरनाह' की कल्पना अवश्य की होगी॥ अवश्य ही उल्लेख अलंकार का यह उत्कृष्ट उदाहरण है॥

महाकवि चन्द को मुसलमान फकीर बनाकर दिखाया गया है। परतु उनके परिवर्तित भेष के अनुसार उनकी भाषा मे परिवर्तन नहीं किया। पृथ्वीराज जब शब्द भेदी बाण का कौशल दिखाने वाले है उस समय 'शाह' नामधारी चंद कवि और सुलतान गोरी का वार्तालाप देखिये। कवि कहते है।

'आये तब शाहजी प्रशान्त धीर गति से
कम्बल लपेटे हुए प्रभुनाम जपते।
आसन से उतर स्वयं सुलतान ने
सादर झुकाया शीश, टेक कर घुटने।'
और कहा 'गुरुदेव, हम कृतकृत्य हैं
पदरज पाके आप मच पर बैठिये'
बोले शाह 'यों तो नहीं जाता
किसी घर मे किन्तु मै बँधा हूँ
सुल्तान के स्नेह से।
रमता फकीर हूँ,
न मान अपमान की चिन्ता
मुझे—मेरी सभी लालसायें तृप्त हैं।

आसन ग्रहण करें आप, जरा घूम
के देखूँगा—थकूँगा तो कहीं भी
बैठ जाऊँगा।'
'आज्ञा शिरोधार्य है'
कहा यों सुलतान ने, शाह
लगे रँगशाला घूम कर देखने।

'गुरुदेव', 'कृतकृत्य', 'पदरज', 'आज्ञा शिरोधार्य' इत्यादि शब्दों से राम और वशिष्ठ-सम्वाद की भाषा प्रतीत होती है न कि एक मुसलमान बादशाह और एक मुसलमान फकीर के सम्वाद की।

एक अन्य स्थान पर शाह सुलतान से कहते हैं।

"वह विश्व व्यापी ही फलाफल का दाता है हमतो बँधे हैं पशुवत्
कर्म रज्जु मे।"

शायद मुसलमान फकीर 'कर्मरज्जु' का अस्तित्व मानते होंगे। गोरी के महल के 'सिंहपौर' का भी वर्णन है, यथा।

'सिंहपौर रक्षित है संख्यातीत वीरों से'

हिन्दू शिल्पकला के अनुसार ही शायद वहाँ भी 'सिंहपौर' बनाने की प्रथा रही होगी और हिन्दू नारियो की तरह ही गजनी की बेगमें 'नूपुर' और 'किंकिणी' पहनती होंगी तभी तो कवि ने लिखा है —

यों तो निस्तब्धता है बेगमों मे,
फिर भी नूपुरों की, किंकिणी की
मीठी झंकार से खिच जाता है ध्यान
उस ओर सबका।

आर्यावर्त की रहन-सहन, वेषभूषा, वैसी की वैसी गजनी मे भी मान कर कवि ने काव्य-कला के साथ अन्याय किया है।

अनैतिहासिकता के अनन्तर यह दूसरा दोष इस प्रबंध-काव्य में अलग दिखाई दे रहा है।

(२)

'आर्यावर्त' में युद्ध-विद्या के सिद्धान्त एवं अस्त्र-शस्त्र सम्बन्धी अनभिज्ञता का भी कहीं कहीं परिचय दिया गया है। मध्यकालीन भारत मे भी, पैदल, घुडसवार, एव हाथी-सवार होते थे। रथ कम होने लगे थे, और हाथी पर चढ़ कर ही अधिकतर राजा लोग युद्ध करते थे, पैदल सेना के आयुध-धनुष, बाण, ढाल, तलवार, फरसा थे। हाथी के सवार एवं घुडसवार ही कवच धारण करते थे। कवच केवल युद्ध के समय ही सवार पहनते थे। कवच एवं ढाल शरीर रक्षा के लिये होते थे। विशेष कर, एक सवार का रक्षक था, दूसरा पदाति (पैदल सिपाही) का। घुडसवार एव हाथी-सवार बराबर ढाल लेकर नहीं लड सकते थे, और बाणों की बौछारों से शरीर की रक्षा आवश्यक थी इस लिये कवच पहनते थे। तलवार से लड़ने वाले पैदल सिपाही ढाल से अपनी रक्षा किया करते थे। ढाल तलवार वाले को कवच की आवश्यकता ही क्या होती थी। दूसरे, कवच (या जिरहबख्तर) पहन कर पैदल चलने में अत्यत कठिनाई भी होती थी। हाथी से हाथी, पैदल से पैदल, अश्व से अश्व लड़ने का साधारण नियम था। रथी या सवार अपने सिर पर लोहे का टोप (शिरस्त्राण), शरीर पर कवच, हाथों पर गोधांगुली त्राण और उँगलियों की रक्षा के लिये भी आवरण रखते थे। हाथी-सवार सेना के आगे रहते थे, पैदल पीछे रहते थे। इसलिए कवच, शिरस्त्राण इत्यादि का उनको पहिनने का नियम न था। जिनके पहिनने का नियम भी था वे भी केवल युद्ध के समय ही पहना करते थे।

कवच मे अतिशय प्रेम

'आर्यावर्त' के कवि ने इन नियमों की ओर किंचित् भी ध्यान नहीं

दिया इसीलिये प्रहरी तक को कवच पहना दिया है। राजा जयचन्द की सभा का वर्णन करते हुए कवि लिखते हैं —

घूमते हैं प्रहरी कृतान्त
से भयावने
उन्नत शरीर पर
कवच कसे हुए
एक-एक पग धरते हैं
मत्त नाग सा
जैसे घूमते हैं
सिंह निर्जन कछार में।

यही नहीं, कवि ने रानी संयोगिता के महल के अन्दर मंत्रणा-भवन में रानी के साथ जाती हुई चेरियों तक को कवच पहना कर ढाल तलवार देकर कमाल किया है। यह मन्त्रणा-भवन कहीं किसी जंगल में नहीं है, राज-प्रासाद के अंदर है और इस राज-प्रासाद के द्वार भी बन्द हैं। कवि के अनुसार,

द्वार सब रुद्ध हैं
सतर्क शस्त्रधारी हैं
घूम रहे चारों ओर
निर्जन कछार में
जैसे घूमते हों व्याघ्र
टोह में शिकार की।

फिर भी स्त्रियों को कवच पहना कर उत्प्रेक्षा अलंकार दिखाना ही अभीष्ट था!! कवि लिखते हैं :—

साथ में थीं चेरियाँ,
कृपाण लिए कर में
जिन हाथों में मेंहदी
की भरी लाली थी

उन्नत उरोज पर
कवच कसे हुए,
बन्दिनी है मानो
सुकुमारता हृदय की
क्रूर कर्त्तव्य रूपी
वज्र के कपाट मे
पीठ पर डोलती थी
वेणी साथ ढाल के
कच्छप की पीठ पर
लोटती थी सर्पिणी
क्षीण कटि मे था
कटिबन्ध और उसमे
झूलता था म्यान
रत्न जटित सुहावना।

आलोचना में इन पंक्तियों पर मिश्र जी लिखते हैं,

'समयानुसार कविकी उत्प्रेक्षा प्रशंसनीय ही नहीं पुरस्करणीय भी है'

वृहन्नला बने अर्जुन को यह अफसोस था कि जिस स्थान पर वह कवच पहिनते थे उसी अंग पर उन बेचारों को कन्चुकी पहिननी पड़ती थी। धनुष की प्रत्यन्चा के घात से बचाने के लिए हस्त बन्धन, तलत्राण के स्थान पर चूड़ियाँ, शिरस्त्राण की जगह पर शीशफूल पहनने पड़ रहे थे।

'पाडव यशेन्दु चन्द्रिका' में स्वरूपदास जी स्वामी का निम्न लिखित कवित्त इस संबंध में ध्यान देने योग्य है। वह लिखते हैं:—

कवच की ठाहर पै
कन्चुकी कसी है देखु,

तलत्रान ठाहर पै
चूरिन को वृन्द है
कृपा कोप पुञ्ज के
निवास दोऊ नैन में
कजरा भरानो ऐसो
महा मोह फन्द है
सिरत्रान तहाँ सीसफूल
दोनों हाथन ते,
गांडीव की रोपणा
मृदगन को छुद है
कौन देस कौन काल,
कौन दुख, कापै कहूँ
कैसे निद्रा लगै
मोहि कौन सो अनन्द है !!

निःसंदेह वेचारे अर्जुन को खेद हुआ होगा, परन्तु 'आर्यावर्त' की चेरियों को नए रूप मे अवश्य आनन्द आया होगा। उनको चूणियों के ऊपर 'तलत्राण' एव शीशफूल के ऊपर 'शिरस्त्राण' और पहिना दिया जाता तो महारानी संयोगिता का मंत्रणा-भवन इन महारथियों के लिए युद्ध-स्थल अवश्य प्रतीत होता। और उत्प्रेक्षा अलंकार और अधिक पुरस्करणीय हो जाता।

कविवर 'कचुकी के ऊपर कवच कसे हुए' लिख सकते थे परन्तु 'उन्नत उरोज पर कवच कसे हुए' उचित समझा गया, शायद हृदय की सुकुमारता का वास्तविक स्थान उन्नत उरोज ही रहे हों।

एक दूसरे स्थान पर स्त्रियों की भीड़ पृथ्वीराज को देखने जाती है तब भी कवि ने यही लिखना उचित समझा.—

एक दूसरी को थी
दबोच कर झाँकती

उन्नत उरोज जब
जब दब जाते थे
गूँजती थी प्यारी
ध्वनि मीठी सीत्कार की

कवि की दृष्टि मे इसमे रस-चमत्कार अवश्य आ गया होगा। मनोविश्लेषणवादी एडलर, फ्रायड, जुन्ग के अनुगामी अवश्य इस उद्धरण से कुछ और तात्पर्य लेंगे परन्तु यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त होगा कि दोनो स्थलो पर यह वर्णन बिलकुल असगत है।

युद्ध काल के अन्तर गोरी की सभा के सभासदों को भी कवि ने ढाल तलवार दी है। लिखते हैः—

फारस का मृदुल
गलीचा है बिछा हुआ
युत्थपति, दलपति,
सेनापति बैठे हैं,
पंक्ति-बद्ध, मोड़ घुटना
को वीर भाव से
रख कर सामने कृपाण
ढाल गडे की
मानो सभा सज्जित
हुई हो दशग्रीव की
मेघनाद, कुंभकर्ण
आदि वीर बैठे हों

यहाँ तो प्रारभ मे तो केवल कवच नहीं पहनाया गया, परन्तु जब गोरी का भाषण समाप्त होता है तो कवि लिखते है.—

मौन हुआ गोरी देख
चारों ओर गर्व से

सुन कर मत्त हुए
जो जो वहाँ बैठे थे
फूल उठी छाती
कड़ी तड़की कवच की

प्रश्न होता है कवच आ कहाँ से गया ? 'आर्यावर्त' के कवि का अधिकाधिक उचित-अनुचित प्रेम कवच से प्रतीत होता है।

हास्यास्पद

अब 'बेडी पड़ी हुई', 'मुश्कें बधी हुई' बन्दी पृथ्वीराज को आँखें फोड़ने के लिये बुलाया जाता है। उस समय पृथ्वीराज का दूसरे सैनिकों से युद्ध दिखाया गया है जो युद्ध-विद्या के सिद्धान्तों के प्रतिकूल तो है ही असगत एव असंभव ही नहीं, हास्यास्पद भी होगया है। जब पृथ्वीराज सभा मे आते हैं तब कविवर लिखते हैं:—

मूछें थी चढी हुईं,
कठोर मुखमुद्रा थी
मानों लोह-निर्मित
प्रचन्ड भुजदण्ड थे।
साड़ जैसे कंधे,
था शिला सा वक्ष, क्षीण कटि
जसे मृगराज की हो—
उन्नत शरीर था।

यहाँ तुलसीदासजी के—

वृषभ कन्ध, केहरि ठवनि,
बलनिधि बाहु विशाल

की सहसा याद आ जाती है। आगे लिखते हैं—

भृकुटि कुटिल,
नेत्र श्येन से सतेज थे

गति गंभीर थी
परन्तु पदपद में
होता था ध्वनित
विकराल क्रोध मन का।
भारत का पुंजीभूत
गौरव सा केसरी
दीख पड़ता था खड़ा
मूर्तिमान काल ज्यों।
मुश्क कसी थीं
बेड़ियाँ पड़ीं पैरों में
सिर पर नंगी
तलवार की चमक थी।

पृथ्वीराज के शरीर का वर्णन यहाँ उनके प्रबल पराक्रम के अनुरूप ही है। सुलतान गोरी की व्यंगोक्ति सुनकर महाराज पृथ्वीराज तिलमिला उठते हैं और फिर —

एक बार पीस कर
दाँत महा योद्धा ने
मारा झटका तो
छिन्न-भिन्न हो के शृंखला
छिटक गई ज्यों
मानो ओले पड़े नभ से
गरजा सरोष—
महाबाहु बल-विक्रमी
तोड़ डाला बेड़ियों को
खींच क्षण भर में
कौंध गयी बिजली
सभा में, भयत्रस्त हो

योद्धा जितने थे
अस्त्र शस्त्र निज फक के
भागे हल्के हो,
एक दूसरे को रौंदते ।

मुश्कें कसी, बेड़ियाँ पड़ी हुई, महाराज पृथ्वीराज ऐसा क्या झटका मार सकते थे, जो शृंखला इस प्रकार आनन-फानन में टूट गई ? कुछ जादू का सा खेल प्रतीत होता है ।। आगे लिखते हैं:—

गोरी का निर्देश हुआ
"जीता ही पकड़ लो"
किन्तु कौन जाता मरने का
वहाँ स्वेच्छा से
था जहाँ कृतान्त सा
कराल वीर केसरी
बन्धन विमुक्त हो
कृपाण लिए कर मे ।

प्रश्न होता है 'यहाँ कैदी के पास' 'कृपाण' कहाँ से आगई ? क्या किसी सैनिक से छीन ली थी ? प्रश्न का उत्तर कहीं नहीं मिलता । समझ लीजिये जादू से तलवार आगई ।।

अब तलवार तो है परन्तु ढाल नहीं है । बिना ढाल के, भूमि पर खड़ा योद्धा, अपनी रक्षा कर ही कैसे सकता है ? अगर धनुष बाण हों तो बाणों से दूसरे के फेंके आयुध काट तो सकता है, परन्तु तलवार से तो आयुध नहीं काटे जा सकते । तलवार वाले के हाथों को कोई भी बाणों से जख्मी कर सकता है । तलवार लेकर कोई योद्धा एक सेना का मुकाबला कर ही कैसे सकता है ? परन्तु एक नये प्रकार का युद्ध-वर्णन करने मे कवि ने फिर कमाल दिखलाया है । कवि लिखते हैं:—

चित्रवत् सेना 'घेर
चारों ओर थी खड़ी
घूमता था दिल्ली-पति
बीच में मृगेन्द्र सा
जिस ओर आगे
बढता था रौद्र तेज से
विद्युत कौंध जाती,
भगदड़ मच जाती थी ।
लाए गए फन्दे,
कुछ साहसी सुभट मिल
फाँसने का यत्न लगे
करने नरेन्द्र को ।
घेर कर शिक्षित
गयदों से, परन्तु गज
खाके वार वार
गज बाँक के प्रहारी भी
पीछे हटते थे
चिंग्घाड़ कर भय से ।
सुण्ड कटे कितने
गजों के और कितनों के
मस्तक विदीर्ण हुए
प्रबल प्रहारों से
कितने गयन्द भागे
रौंदते सिपाहियों को
हाहाकार छा गया
विकल गोरी हो उठा
एक वार हल्ला बोल
फिर अरि टूट पड़े

घेरा किया छोटा
फिर फन्दे लगे फेंकने
देखते ही देखते
विवश वीर हो गया
मानो आजनेय बँधे
घोर ब्रह्मफॉस में
अग-प्रत्यग कसा
वीर आर्य पुत्र का
छा गई हुलस की
लहर अरि दल में !

मस्त हाथी के छूट जाने या घोड़े के भाग जाने पर जैसे रस्सी के फदे बनाकर उनको पकडा जाता है वैसे ही पृथ्वीराज भी कवि-कृपा से ऐसे फन्दे मे फॅस से गये !! जो तलवार हाथियों के सुन्ड काट सकी और मस्तिष्क विदीर्ण कर सकी वही तलवार रस्सियों को काटने में असमर्थ रह गई !! कवि कल्पना की उडान तो अवश्य ही प्रशंसनीय है। यह समझ में नहीं आता कि यह वीर योद्धा के युद्ध का वर्णन है या किसी उद्धत जानवर को फन्दे में फॉस कर चिडिया घर में बन्द करने का वर्णन है ?

ध्वजा के बिना विजय कैसी ?

जितना हास्यास्पद पृथ्वीराज का रस्सों में बॉधा जाना है उतना ही हास्यास्पद महाकवि चन्द का 'आर्य झन्डा' के कपडे को अपने सिर मे लपेट कर चल देना है। कविवर ने इस ओर भी ध्यान नहीं दिया कि सेना के लिये उसके ध्वज (झन्डा) का मूल्य अत्यन्त महत्व का होता है। महाभारत में इसीलिये सेना को 'ध्वजिनी' भी कहा गया है, (उद्योग १५५ २५) । शत्रु लोग पहले 'ध्वजदण्ड' पर वाण मारा करते थे। सेना सदा ध्वजदण्ड की रक्षा करती थी और ध्वजदण्ड के गिरते ही उस सेना में भगदड़ मच

जाया करती थी। ध्वजदन्ड के गिरते ही शत्रु उसको प्राप्त करने का प्रयत्न करते थे और शत्रु से छीने ध्वजदन्ड, ध्वजा तथा छत्र विजय के गौरव मय प्रतीक स्वरूप अच्छे स्थान पर सुरक्षित किये जाते थे। जिस यवन सेना ने पृथ्वीराज को कैद कर लिया हो, अवश्य ही उसने पराजित सेना के ध्वजदन्ड एवं ध्वजा तथा छत्रों को ले लिया होगा। यह विचार कि युद्ध-स्थल में यह ध्वजा धूल धूसरित पडी हुई थी, युद्धनीति से अनभिज्ञता का परिचय देना। बिना ध्वजा लिये पूर्ण विजय कैसे मानी जा सकती थी? कवि ने इन बातों पर ध्यान न देकर लिखा है —

एक ओर आयों
का ध्वज था पड़ा हुआ
ध्वजधर छाती मे
लगा के ध्वजदण्ड को
काल दण्ड खाकर
पड़ा था हत-प्राण हो
एक दिन यह केतु
विजय प्रतीक था
आज यह चिन्ह बना
घोर पराजय का !!
जानता था विश्व कोटि—
कोटि खड्ग इसकी
रक्षा करते हैं, किन्तु
आज विधि गति से
एक चीथड़ा है;
एक तुच्छ वस्त्र-खण्ड है
धूलि में पड़ा है,
जिसे रौंदा अरिदल ने

झुक के उठा लिया
पताका को कवीन्द्र ने।
आँखों से लगाया और
बाँध लिया सिर में।

× × ×

लौटा कवि चन्द
चुपचाप सर्वहारा सा
सिर से लपेटे सना
रक्त और धूल में
आर्य ध्वज गौरव प्रतीक
आर्य जाति का

यही नहीं, कविवर ने यही झण्डा राणा समरसी का 'कफन' भी बना डाला है। महाकवि चन्द लौट कर मंदिर में आते हैं तो राणा समरसी मृत पाए जाते है। चन्द को चिता तैयार करनी पडती है। कवि लिखते हैं:—

एक बार चन्द ने
कराह आह भर के
और की प्रस्तुत
विशाल चिता वाणों की,
टूटे स्यन्दनों का
और भग्न धनु खन्डों की
शव को लपेटा,
आर्य ध्वज खोल सिर से !!

आर्य सेना की ध्वजा से कवि ने कितने महत्व के काम लिए। महाकवि चन्द का साफा बनाया और राणा समरसी का कफन !! आर्य ध्वज का भाग्य तो देखिये! कवि के हाथों से कैसी मिट्टी खराब हुई है !!

(३)

'आर्यावर्त्त' में प्रकृति के सांगोपांग सुन्दर एवं सुकुमार वर्णनों की भरमार है। यह प्रबन्ध काव्य संध्या के मनोहर वर्णन से ही प्रारम्भ होकर प्रियप्रवास के प्रथम छन्द की याद दिलाता है। 'प्रियप्रवास' भी 'सन्ध्या' के निम्नलिखित वर्णन से प्रारम्भ हुआ है—

दिवस का अवसान समीप था
गगन था कुछ लोहित हो चला
तरुशिखा पर भी अब राजती
कमलिनी कुल-वल्लभ की प्रभा

'आर्यावर्त्त' का प्रथम सर्ग भी निम्नलिखित 'संध्या वर्णन' से प्रारम्भ किया गया है—

दिन मणि डूब गया
तम के समुद्र में
आई चुपचाप सन्ध्या
शोकातुरा विह्वला।
गूँज उठा झिल्ली रव
नूपुर निनाद सा
भीरु अन्धकार सा लगा
झांकने निकुन्जों से।
रात ने न देखा कभी
रवि को, न रवि ने
रात को निहारा
भूल के भी आँख भर के
किन्तु निशा रोती है
अधीरा बनी रात को
रवि के वियोग में,
इधर रवि दिन में

हाय तपते हैं निशा
रानी के विरह म
कैसी यह प्रीति है!
वियोग यह कैसा है!!

आलोचक महोदय प० रामदहिनजी मिश्र के शब्दों में—

"इसमे न तो वाच्यार्थ का चमत्कार है और न लक्षणा का। अलकार का भी आभास नहीं मिलता तथापि यह जो कुछ है अपूर्व है। कला और कल्पना का सुन्दर दिग्दर्शन है और भी बहुत कुछ है जिससे कविता असाधारण और अनुपम हो गई है और यहाँ तो और कुछ न रहने पर भी यह वर्णन सीधे हृदय पर चोट करता है। कहिए तो भला बिन देखे की प्रीति कैसी? भले ही आधुनिक कवि भावी पत्नी का प्रेम पँवारा गावें क्योंकि एक न एक दिन उनका सयोग सभव है किन्तु यहाँ तो एक दूसरे ने कभी निहारा भी नहीं, फिर भी परस्पर अपार प्रेम। प्रेम ही नहीं, रोना धोना, तड़पना और तपना भी यहाँ रात मे रजनी के रोने का वर्णन समुचित है, क्योंकि उसका वैसा ही वातावरण हो जाता है और दिन मे रात्रि वियोग से रवि का तपना तो सभी के लिए सहज गम्य है। रोना और तपना प्रीति और वियोग के कैसे सुन्दर प्रतीक हैं। इस उद्धरण का भाव तो 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' के भाव से भी बढ जाता है।"

सौन्दर्य का आभास

इतनी व्याख्या के बाद भी हमको इस प्रीति एवं वियोग के वर्णन से सौन्दर्य का आभास नहीं दिखाई देता।

कृष्णपक्ष के अधकार में या बरसात की अँधेरी रात मे रजनी के रोने का वर्णन समुचित हो सकता है। ग्रीष्म के दिनों मे सूर्य का तपना भी सहज गम्य है। परन्तु शुक्ल पक्ष की चाँदनी मे तो

रात्रि के रोने का वातावरण नहीं हुआ करता। रात्रि देवी वहाँ तो 'शुक्लाभिसारिका' नायिका बनी मुस्कराती प्रतीत होती है। फिर उन चाँदनी रातों और शिशिर ऋतु के दिनों मे तो वियोग में हँसी एवं प्रसन्नता का क्या अर्थ लिया जाना चाहिए !!

यदि दिन और रात का प्रेम दिखाना ही अभीष्ट था तो 'प्रिय-प्रवास' की तरह भगवान भास्कर की लाल-लाल प्रभा उच्च शिखाओं पर विराजती तो बता देते।

खैर, एक चन्द्रमुखी नायिका, गले मे मोतियों की माला पहिने, मस्तक पर नग लगाए, प्रातःकाल ही स्नान करके घूघट से मुँह ढक कर चली जा रही है, जिसको देखकर 'मुबारक' कवि की कल्पना तो जरा देखिए। वह लिखते हैं—

> चूनरी विचित्र श्याम
> सजिके मुबारकजू
> ढाकि नखसिख ते
> निपट सकुचाति है
> चन्द को लपेटि के
> समेटि के नखत मानो,
> दिन को प्रनाम किए
> राति चली जाति है।

यहाँ 'दिन' और 'रात' का प्रेम तो नहीं वर्णन किया गया परन्तु 'दिन' के प्रति 'रात्रि' की श्रद्धा तो बताई है। जहाँ एक के अन्त से दूसरे का उदय होता हो वहाँ प्रेम तो असभव ही है, श्रद्धा भी रहे तो भी गनीमत ही समझिये इसीलिए आगे चलकर 'आर्यावर्त्त' के कवि भी भूल गए कि प्रारम्भ मे रात्रि और दिवस का प्रेम दिखाया है तो फिर दोनो की शत्रुता तो न दिखानी चाहिए।

आगे चलते ही, कविवर ने 'रात्रि' आगमन पर 'दिन' की चिता जला दी है यथा—

पच्छिम क्षितिज पर दिन
की चिता जली
अन्धकार छा गया
चितानल के धूम से

और आगे जाकर फिर यही भाव दुहराया है। लिखते हैं—

शीतल बयार आ रही
थी इठलाती सी
रजनी भरी थी वन
जूही की महक से
झिल्ली रव गूँजता था
नूपुर निनाद सा
मानो नाचती हो निशा
होके मतवाली सी
दिन की जला के चिता
शून्य मरघट म।

दिन की चिता जलाई गई रात्रि आगमन पर, इसी प्रकार दिनपति के आगमन पर रजनी को भागते दिखाया है लिखते हैं—

अन्धकार गज भागा
गहन विपिन म
दिनपति प्रकटा सरोष
मृगराज सा
केसर सी किरणें विकीर्ण
हुई नभ में

भाग वे मृगाक छिपा
अस्ताचल आट म
भय था कि मृगचिन्ह
देख कहीं केसरी
टूटे मत,—भाग गई
रजनी किराती सी
आचल मेभर के नक्षत्र—
—गु जा भय से।

यहाँ 'टूटे मत' मे भाषा दोष है और अन्तिम पक्ति में 'गुबारक' कवि के भा। से कुछ-कुछ भाव मिल रहा है।

कहाँ प्रारम्भ मे ही दिन और रात के अपार प्रेम का वर्णन किया गया और कहाँ फिर इतनी घोर शत्रुता वर्णन करनी पड़ी। कहां तो प्रारम्भ मे यह लिखना पड़ा कि एक दूसरे ने भूल करके भी आँख भर के नही निहारा और फिर बाद मे एक ने दूसरे की चिता भी जला दी॥

जहाँ बाद मे किये गये वर्णन स्वाभाविक है प्रारम्भिक छन्द बिलकुल अस्वाभाविक है। इस बात का अवश्य खेद होता है कि ऐसे सुन्दर प्रबन्ध काव्य का इतने नीरस एवं अस्वाभाविक वर्णन से श्रीगणेश किया है। यह भी देखकर खेद होता है कि कविवर आगे चलते-चलते यह भूल जाते है कि वह पीछे क्या बात लिख चुके है। एक अन्य उदाहरण पर्याप्त होगा।

प्रथम सर्ग मे देवी मंदिर मे महाकवि चन्द और राणा समरसी को मिलते दिखाया है। उस समय चाँदनी रात बताई है। कवि ने लिखा है:—

आई विधुवदनी विभावरी गगन मे
फूल उठे कुमुद सरोवरों मे सुख से

थोड़ी देर बाद ही लिखते हैं—

पीपल की ठूँठ पर बैठे पंख फड़का
बोल उठा उल्लू घोर निर्जनता छा गई।
आ गई समय शशि
संभवा विभा वहाँ
अंधकार पीछे हटा
मानो शैवाल हो
जटिल सरोवर का
और जिसे कर से
कोई हटाता स्नान
करने के लिए!

जहाँ पहले ही ज्योत्स्ना दिखा चुके थे तो फिर वहीं 'शशि सभवा विभा' बतलाना उचित कैसे हो सकता है, अंधकार क्या बीच में आ कूदा था?

अब यहीं पर चन्द कवि से यह कहलवाया जाता है कि युद्ध स्थल मे सेनापति कन्ह और महाराज पृथ्वीराज को वह खोजने को जाना चाहते हैं तो राणा समरसी के मुख से उत्तर दिया जाता है—

जाओ कवि और खोजो
उज्ज्वल भविष्य को
इस सूची भेद घनघोर
अंधकार में

पराजितावस्था को अंधकार बताना अवश्य ठीक होता परन्तु "सूचीभेद" "घनघोर अंधकार" से युद्ध स्थल में घनघोर अंधकार के प्रसार का भी आभास होता है जो पूर्व कथित चाँदनी से प्रत्यक्ष विरोध का सूचक है।

'आर्यावर्त्त' में कहीं-कहीं अलंकार-योजना बड़ी अच्छी हो गई है। कहीं कहीं इन अलंकारों के कारण ही काव्य मे कृत्रिमता की झलक दिखाई पडती है। एक स्थान पर लिखा है—

भर गयी अमल
धवल चारु चद्रिका
मानो भरा दुग्धफेन
भूतल से नभ लों
रात बनी मूर्त्ति-मती
"शुक्लाऽभि—सारिका"
आ रही है निज को
छिपाए सित वस्त्र में
अलकार 'मीलिता'
सदेह देखा कवि ने
किन्तु नीलिमा थी
निशानाथ के कलंक की,
यह "उन्मीलिता"
का सहज स्वरूप था

आलोचक महोदय पं० रामदहिनजी मिश्र लिखते हैं:—

"चाँदनी रात है। दुग्ध फेन की सी अमल धवल चारु चन्द्रिका चारों ओर फैली हुई है। प्रिय संकेत-स्थल को जाने वाली प्रमदा को अभिसारिका की आख्या दी गई है। यदि वह श्वेत चाँदनी में श्वेत सुमनों से लदी फदी श्वेताम्बर होकर अभिसार करती है तो शुक्लाभिसारिका कहलाती है नहीं तो कृष्णाभिसारिका। यहाँ रजनी रानी स्वयं शुक्लाभिसारिका बन गई है। मीलित अलंकार संदेह देख पड़ता है क्योंकि चाँदनी में रात का तिरोधान वर्णित है। परन्तु उसके एकान्त मीलित हो जाने मे कुछ कोर कसर रह गई है। चाँद का कलक तो नीला का नीला रह ही गया। इससे रात

का यह रूप 'उन्मीलिता' अलकार का हो जाता है। क्योंकि उन्मीलता अलंकार वहीं होता है जहाँ कारण विशेष से भेद का कुछ कथन किया जाय। कवि ने रात्रि-वर्णन के प्रसंग में 'शुक्लाभिसारिका' नायिका तथा 'मीलित' और 'उन्मीलित' अलंकारों की ऐसी अवतारणा की है कि उसकी प्रतिभा और प्रत्युत्पन्नमतित्व की प्रशसा किए बिना नहीं रहा जाता। चमत्कार तो ऐसा है कि रीतिकाल के कवि भी मात हैं! ऐसी अनोखी सूझ बूझ के लिए सभी सहृदय कवि के आभारी हैं।"

समझने में भूल

हमारी राय में कवि एवं आलोचक दोनों को 'मीलित' अलंकार के समझने में ही भूल हुई है। 'मीलित' अलंकार वहीं माना जाता है जहाँ एक बलवान वस्तु उसी गुण वाली दूसरी निर्बल वस्तु को मिलाकर छिपा लेती है। अधरों की स्वाभाविक लाली से खाये हुए पान की लाली छिप जाए या काली कजरारी आँखों से लगा हुआ काजल छिप जाय तो वहाँ 'मीलित' बताया जाएगा।

चाँदनी एवं रात्रि तो दोनों समान ही रहेंगी। चाँदनी कभी दिन मे तो होती नहीं रात्रि में ही होती है। 'चाँदनी रात' कहो या 'ज्योत्स्ना' कहो, बात एक ही है, 'कृष्ण पक्ष की रात्रि' एवं 'अंधेरी' में क्या भेद रहेगा? गुण की समानता से दोनों में अभेद की प्रतीक होगी। 'चाँदनी' कहते ही 'रात्रि' का भाव सम्मुख आ जाता है। निशानाथ के कलंक से भी 'चाँदनी' और रात्रि' में भेद कैसे प्रतीत हो जायगा? चन्द्रमा के कलंक रहते हुए भी 'चाँदनी' एव 'रात्रि' एक ही बनी रहेगी। अलग अलग नहीं दिखाई पड़ेगी, न अलग अलग मानी ही जायगी। इसलिए न तो यहाँ 'मीलित' अलंकार ही है और न 'उन्मीलित' अलंकार। शुक्ल पक्ष की चाँदनी रात को मूर्तिमती बनाने में पाश्चात्य 'मानवीकरण' अलंकार अवश्य है।

जब एक वस्तु दूसरी के साथ मिली रहे किन्तु मिलकर भी किसी कारणवश पृथक् प्रतीत हो तो वहाँ 'उन्मीलित' अलकार बताया जाता है।

सेठ कन्हैयालालजी पोद्दार ने 'काव्य कल्पद्रुम' के द्वितीय भाग के पृष्ठ ३५२ पर 'उन्मीलित' अलंकार के उदाहरण में 'रघुनाथ' कवि का निम्न-लिखित कवित्त उद्धृत किया है.—

> देखिवे को द्युति पूनो के चन्द की
> है "रघुनाथ" श्री राधिका रानी
> आइ बिलौर के चौतरे ऊपर
> ठाड़ी भई सुख सौरभ सानी
> ऐसी गई मिलि जौन्ह की जोति सों
> रूप की रासि न जात बखानी
> बारन तें, कछु भौंहनिते, कछु
> नैनन की छवि ते पहिचानी

यहाँ पहिले तो श्री राधिका जी चाँदनी में घुल मिल जाती है। परन्तु बाद मे चाँदनी से राधिका जी का भेद उनके श्यामवर्ण के केशों आदि द्वारा ज्ञात होना कहा गया है। यहाँ अवश्य ही उन्मीलित अलकार है।

ध्यान देने योग्य यह बात है कि 'चांदनी' में शुक्ल रंग या 'श्वेतता' बहुत ही होती है और श्वेत वस्त्र पहिने हुये किसी नायिका में उससे कम होगी। जहाँ उत्कृष्ट गुण वाली वस्तु से कम गुण वाली वस्तु छिप जावे वहीं मीलित अलकार माना जाता है। जहाँ दोनों वस्तु तुल्य गुण में घुल मिल जावें वहाँ 'मीलित' अलंकार न होकर 'सामान्य' अलंकार ही माना जाता है।

साहित्य दर्पण में लिखा है—

"मीलिते उत्कृष्ट गुणेन निकृष्ट गुणस्य तिरोधानम् ।
इहसामान्ये तु उभयो स्तुल्य गुण तया भेदाग्रहः ।।"

कुवलयानन्द ने भी इसी बात का समर्थन किया है। 'अलंकार सर्वस्व' एवं 'रसगंगाधर' में भी यही सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।

यद्यपि हमारी राय में तो 'आर्यावर्त्त' के उपरोक्त छन्द में 'मानवीकरण' के अतिरिक्त कोई भी दूसरा अलंकार नहीं है तो भी कल्पना को अधिक खींचकर चाँदनी एव रात्रि को पृथक् मानकर मिला देना भी स्वीकृत किया जाय तो 'तुल्य गुण' के कारण अधिक से अधिक यहाँ 'सामान्य' अलंकार माना जा सकेगा।

कम से कम यह बात निश्चित है कि 'मीलित' या 'उन्मीलित' अलंकारों का न तो यहाँ अस्तित्व ही था और न कविवर का दोनों अलंकारों को स्त्री रूप में (*'मीलिता'* या *'उन्मीलिता'*) कर देना समुचित कहा जा सकता है। काव्य में जो कृत्रिमता आगई है वह एकमात्र अलकारों के हाथ धोकर पीछे पड़ने का ही परिणाम है।

उत्प्रेक्षा से प्रेम

'आर्यावर्त्त' में उपमा एवं उत्प्रेक्षा अलंकार दोनों अच्छे पाये जाते हैं। मिश्रजी ने लिखा है कि "कवि उत्प्रेक्षाओं का इतना रत्नाकर है कि लिखते लिखते तड से एक उत्प्रेक्षा-रत्न को ऐसी बारीकी और कारीगरी से जड देता है कि पाठक चमत्कृत हुए बिना नहीं रह सकते।"

इस राय से सभी सहमत होंगे। कहीं-कहीं अवश्य उत्प्रेक्षा या उपमा अनुचित प्रतीत होती है।

एक स्थान पर 'चारण' के शरीर का वर्णन करके कवि लिखते हैं:--

हाथ मे थी यष्टि और
कटि मे थी झूलती
लम्बी तलवार
झुकी पीठ पर ढाल थी
मानो लदा पीठ पर
यौवन का भार हो

पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है मानो सुन्दर यौवन की वसन्त-स्मृति की उपमा काली बोझिल ढपील ढाल से दी जा रही है और जर्जर वृद्धावस्था शायद 'यष्टि' या झूलती तलवार सरीखी बताई जा रही है। कहाँ मधुर यौवन की बीती मधुर याद और कहाँ गैंडे की खाल की भारी ढाल !!

एक दूसरे स्थान पर, गजनी के झण्डे का वर्णन करते हुए लिखा गया है:--

उच्च स्वर्ण दण्ड मे
पताका गजनी की यों
हाय, लहराती मानों
छाती पर देश की
साँप लोटता हो
लाल किरणें दिनेश की
मूर्छित पड़ी हों
उस केतु पर शोक मे।
किंवा किया सिक्त
उसे भारत के भानु ने
अपने हृदय के घोर
ज्वालामय रक्त से।

सूर्य अपनी गर्मी से उष्णता तो प्रदान करता है और सिक्त (गीली चीज) को सुखाता भी है। परन्तु यह नहीं सुना होगा कि किसी सूखी हुई वस्तु को अपना रक्त देकर सिक्त करने का भी सामर्थ्य उसमें है। और 'ज्वालामय रक्त' कैसा ? क्या इस 'ज्वाला' में जलाकर भस्म करने की शक्ति नहीं थी ? फिर क्या गजनी का झन्डा नीला हो गया था जिसके लिए 'उत्प्रेक्षा' की आवश्यकता हुई ? जितना अनावश्यक एवं अस्वाभाविक 'भारत सूर्य का अपने अपने रक्त से झन्डा' सिक्त करने का वर्णन है उतना ही अनावश्यक एवं अस्वाभाविक सूर्य की लाल किरणों का शोक से पताका के ऊपर मूर्छित होने का वर्णन किया गया है। शायद उस समय सूर्य की सारी लाल किरणें, सब स्थानों से हटकर, झन्डे पर ही केन्द्रीभूत हो गई थीं। ध्यान देने योग्य यह बात भी है कि जिस समय का यह वर्णन है उस समय 'आर्यावर्त्त' के सूर्य, महाराज पृथ्वीराज, जीवित थे ॥

दुनाली बन्दूक से प्रेम

प्रतीत यह भी होता है कि कवि को 'दुनाली' बन्दूक से भी प्रेम रहा है। महाराज पृथ्वीराज के नयन तेज के लिए एक स्थान पर तो कवि ने लिखा है:--

> *जिस ओर ज्वालामयी*
> *दृष्टि पड़ जाती थी*
> *कूद कर पीछे*
> *अस्त्रधारी हट जाते थे*
> *कौन ऐसा वीर है*
> *खड़ा जो रहे सामने*
> *छाती तान काल मूर्ति*
> *भीषण दुनाली के ॥*

दूसरे स्थान पर लिखा गया है कि—

धधक रहा है रुद्र
तेज यों नयन से
जैसे हो निकलती
दुनाली से तड़पती
ज्वाला, वायुमडल को
फाड़ती दहाड़ती

कामदेव को जलाते समय जो तेज भगवान रुद्रदेव ने नेत्र से निकाला था वह दोनों साधारण नेत्रों से न निकालकर तृतीय नेत्र से ही निकला था। यहाँ कवि ने साधारण नयनों से ही रुद्र तेज निकाल दिया है। कितना ही रुद्र तेज नयनों से निकलता हो उसमें तडपती या वायुमंडल को फाड़ती दहाड़ती गोली चलने की आवाज तो नहीं हुआ करती। परन्तु यहाँ पर नयन तेज की समता दुनाली बन्दूक की चलती गोली की आवाज से ही की गई है॥

अब स्वयं महाराज पृथ्वीराज की उपमा, पूर्व छन्द में, 'काल-मूर्ति भीपण दुनाली' से दी गई है। क्या यह उचित है? क्या मनुष्य शरीर दुनाली बन्दूक की तरह ही है?

'दुनाली बन्दूक' को जमीन में यदि खडा किया जावे तो दोनों नली ऊपर आसमान की ओर रहेंगी। परन्तु मनुष्य की आँखें तो आसमान की तरफ नहीं रहतीं। छाती पर रखकर यदि दुनाली चलाई जाय तो वह लम्बी क्षितिज पंक्ति की तरह रहेगी परन्तु मनुष्य, सिवाय पेट के बल लेटने पर क्षितिज पंक्ति की तरह दुनाली बन्दूक नहीं बन सकता। क्रोध आने पर आँखों की लाली भी दुनाली में तो दिखाई नहीं पड़ती॥

प्रश्न यह है कि फिर यह दुनाली बन्दूक से उपमा कैसे दी गई। जहाँ तक हमारा विचार है काव्य लिखते समय कवि के

मस्तिष्क में 'नैषध चरित' का यह श्लोक कुछ अशुद्ध रूप में, अवश्य रहा होगा —

धनुषीरति पंच बाणयो रुदिते
विश्व जयाय तद्भ्रुवौ
नलिके तदुच नासिके
त्वयि नालीक विमुक्ति कामयो।

(सर्ग २ श्लोक २८)

(क्या दमयन्ती की भृकुटियाँ विश्व पर जय प्राप्त करने के लिए कामदेव और रति के दो धनुष नहीं हैं? क्या उसकी उच्च नासिका पुट पर दो नली नहीं है जहाँ काम के बाण रखे रहते हैं और जहाँ से लेकर इच्छानुसार काम बाण छोड़ते हैं।)

नाक के ऊपर बीचोबीच वाली पतली हड्डी के दोनों ओर दो नथुने, बहुत ही छोटे रूप में, और, वह मुख्यकर कविवर श्री हर्ष के वर्णित प्रयोजन के ही लिए, दुनाली बन्दूक बताए जा सकते हैं। किन्तु कल्पना का कितना भी अधिक सहारा लेकर आँखों की उपमा दुनाली से नहीं दी जा सकती। इसी प्रकार खड़े हुए मनुष्य के तने हुए शरीर की उपमा 'तनी हुई भीषण दुनाली' से देना सही नहीं हो सकता।

(४)

चरित्र-चित्रण और भाषा-दोष

अधिकतर पात्रों का चरित्र चित्रण भी 'आर्यावर्त्त' में सफल हुआ है। इस प्रबन्ध काव्य में शहाबुद्दीन मोहम्मद गोरी जैसे पात्र को भी निर्मल और उज्ज्वल दिखाया गया है। सिवाय आँख निकलवाने के, अंधे पृथ्वीराज का भी सुलतान ने सदा ही समादर किया है और उनकी पराजय को भी श्रद्धा की दृष्टि से देखा है। एक स्थान पर सुलतान, पृथ्वीराज से कहता है,—

पूजक हूँ वीर का मैं
आप महावीर हैं।
धन्य है स्वदेश-भक्ति
आपके हृदय में॥

अपनी सभा मे सभासदों एवं सेनापति की उपस्थिति में राजा जयचंद से सुलतान कहता है —

आज एक मेरा
महावैरी शेष होगया
शैल सा बिंधा करता
था मन प्राण में
छिन्न भिन्न सेना हुई
आज इस देश की
जैसे उड़ जाती घटा
आँधी के थपेड़ों से
फिर भी सराहता हूँ
वीरता मैं वैरी की
हारा, किन्तु जीत से
भी गौरवपूर्ण हार में

इन अवतरणों से ही पता चलता है कि सुलतान गोरी को वीर पूजक, दूरदेश एवं विशाल हृदय वाला दिखलाना कवि को अभीष्ट था। अवश्य! अन्त में सुलतान ने वजीर से जो कुछ कहा है वह असगत और बेतुका सा मालूम होता है। शब्द-भेदी वाण द्वारा पृथ्वीराज का कौशल दिखलाने की आज्ञा देते हुए गोरी अपने वजीर से कहता है:—

देश है हमारा
वीर पूजक हृदय से

सभव है देखकर
दुर्गति नरेश की
निन्दा करे जनता
हमारी क्रूर नीति की
सघ बद्ध दुष्टता का
नाम कूट-नीति है,
चलता नही हैं
राज काज बिना इसके।
चाहे जो अनर्थ करे
आँखें बचा जग की
गोटें सभी आपकी हैं
लाल, निशंक हो
लूटिए प्रजा को
खून चूसिए अभागों का
विष खिला दीजिए
छिपा के नवनीति में
धन्यवाद देगा जो
चखेगा, उपकृत हो
आपकी सराहना
करेगा मुक्तकंठ से

यह पता नहीं कि विष खाकर भी कोई कब तक सराहना करेगा कभी न कभी तो भेद खुल ही जाता है।

उक्त छन्द को पढ़कर हमें अत्यन्त आश्चर्य हुआ। अगर यही वाक्य 'फकीर' या 'शाह' के मुँह से कहलवाए जाते तो अच्छा रहता। परन्तु स्वयं सुलतान के मुँह से ये बातें कहलवाना अनुचित है। क्या सुलतान कविवर की तरह साम्यवादी विचारों के हो सकते थे?

जो व्यक्ति गजनी में स्वयं अपने सिंहासन को सुरक्षित कराने की चिंता में हो, जो सुलतान भारतवर्ष में अपना राज्य-विस्तार करने में लगा हो, क्या वह ऐसे क्रान्तिकारी विचारों का हो सकता है जो अपने ही वजीर से यह कहने का साहस कर सके कि "आपकी सभी गोटी लाल है" दुनिया की आँख बचाकर अन्याय करते रहिए, प्रजा को लूटते रहिए और अभागों का खून चूसते रहिए, बिना इसके राज काज नहीं चलता, यही कूटनीति है।

अगर वजीर ही सुलतान से ये बातें कहता तो भी गनीमत थी। परन्तु सुलतान का उलटे वजीर से ये वाक्य कहना अनर्गल ही नहीं राजनीति के साधारण सिद्धान्तों से सुलतान गोरी की अनभिज्ञता का भी परिचायक है। ऐसे अनावश्यक छन्दों से काव्य में नीरसता बढ़ने लगती है। चरित्र चित्रण मे जो दोष आ जाता है, वह अलग।

हास्यास्पद चित्रण

विद्वद्वर मिश्रजी ने एक स्थान पर लिखा है, "कवि ने सभी पात्रों को ऐसे साँचे में ढाल रखा है कि उनके सामने आते ही हमारे हृदय सहज सहानुभूति से भर जाते हैं।"

यह ठीक ही है। अगर कहीं कुछ अन्याय प्रतीत होता है तो कवि चन्द के पुत्र जल्ह के सम्बन्ध में ही। जहाँ महाकवि चन्द और उनकी पत्नी कविरानी क्रमशः 'विराट पुरुष' और 'परा प्रकृति' की मूर्ति बनाकर सम्मुख खड़े कर दिए गए हैं; वहाँ जल्ह का जो कुछ चरित्र-चित्रण है वह हास्यास्पद है।

हतचेत एवं निराश चन्द कवि, पराजय का सम्वाद लेकर, घर आकर कविरानी के पास आकर कहते हैं'—

आज फटती है, देवि !
छाती ! चित्त व्यग्र है

आेर छोर सूझता नहीं
है, अब क्या करूँ ?

तब कविरानी कहती है.—

× × "आर्य, इतनी
हताशा आज
शोभा नही देती आप
जैसे धीर वीर को
भाग्य क्या है
निर्बलों का तुनुक सहारा है,
वीर निर्माता हैं
स्वय निज भाग्य के।

+ × ×

आप निज भाग्य के
स्वयम् निर्माता हैं
कायरों का भाग्य लिखा
जाता है विधाता से!
नाथ इतिहास कहता
है, भगवान भी
देते सदा साथ हैं
सबल का त्रिकाल मे
रीझते हैं देव नहीं
व्रत उपवास से,
रीझते हैं देव नहीं
ध्यान से, समाधि से,
आर्य, इस दासी को
कहा था कभी आपने
रीझते हैं देव,

कर्मवीर की दहाड़ से।
देव इस दासी की
मुखरता क्षमा करें।
साहस है जीवन,
हत आशा ही मृत्यु है।"

ये विचार बड़े अच्छे हैं। अवश्य ही कर्मवीर के कर्मों से ही देव रीझते होंगे। कोरी दहाड़ से तो क्या रीझ सकेंगे? फिर भी, कविरानी के भाषण की भाषा सशक्त, सजीव एव अत्यन्त ओजस्वी है, इसको सुनकर महाकवि चन्द में आशा का संचार हो जाता है। आगे लिखते हैं:—

'सुन कर बातें कविरानी
की, कवीन्द्र की
फड़की भुजाएँ, खून
दौड़ा रग रग मे
रक्त बहा सूखे
हुए क्षत से प्रहारों के।
जैसे सुन डमरू-
निनाद फण मत्त हो
फूत्कार कर के
उठाता फणा रोष में।
आँखें हुईं लाल, बोला
कवि चन्द रोष में
"आर्य! मैं हताश
नहीं हूँगा और अन्त तक
जूझूँगा, करूँगा प्रति-
पाल आर्यधर्म का।"

किन्तु एक बात है—
कवीन्द्र बोला रुक के—
"चिन्ता यही होती है
कि मेरे महाकाव्य का
शेष सर्ग शेष है
लिखेगा कौन उसको ?"

पढकर प्रतीत होता है महाकवि चन्द को भारत की स्वतन्त्रता की उतनी चिन्ता नहीं थी जितनी अपने महाकाव्य के शेष सर्ग समाप्त करने की चिन्ता थी। कहाँ तो राष्ट्र के पुनरुद्धार का प्रश्न और कहाँ एक काव्य के सर्ग लिखने की चिन्ता ? महाकवि को यह कैसे पता चल गया था कि यही अन्तिम सर्ग होगा ? अगर राष्ट्रीय सेना जीत जाती तो न जाने कितने और सर्ग लिखे जाते।

खैर, अन्तिम सर्ग लिखने की चिन्ता चन्द कवि के पुत्र जल्ह मिटा देते हैं:—

बोला तब युवक
प्रणाम कर धीरे से
"देव, मैं लिखूँगा
हो निदेश इस दास को
पूर्ण करूँगा इस
पूज्य महाकाव्य को
बोला कवि चन्द
स्नेह गद् गद् कंठ से
"पुत्र जल्ह, चिंता मिटी,
भार मुक्त होगया
लेखनी सँभालो तुम
लूँगा तलवार मैं,

भारती से आज
मेरी अन्तिम विदाई है'

यहाँ जल्ह बेचारा यह तो कह ही नहीं पाया कि हे वयोवृद्ध पिता जी ! मेरे रहते आप इतनी वृद्धावस्था में क्यों तलवार लेते हो? यह तो अब मेरा धर्म है। मुझे सेना में जाने दो और आप स्वयं अपना सर्ग फ़ुरसत में बैठकर लिखो, मुझे भी तो आर्य धर्म का प्रतिपालन करने दो।'

कवि का आर्य धर्म

अगर 'आर्यावर्त्त' मे एक बार भी जल्ह से ऐसा कहलवा दिया जाता तो जल्ह का चरित्र-चित्रण बहुत कुछ सुधर जाता। परन्तु 'आर्यावर्त्त' के उपरोक्त छन्द से तो ऐसा ज्ञात होता है कि आलस्य ग्रस्त, पेटार्थी 'जल्ह' युद्ध से डरा हुआ युद्ध से बचने का बहाना ढूँढ़ने को उतावला बैठा हुआ था। जिस क्षण महाकवि चन्द के मुख से, अंतिम सर्ग पूरे करने की बात निकली बस तुरन्त ही बडबड़ा उठे 'जाइये पिता जी फौरन युद्ध को चले जाइये, देर न करिये। एक क्या, दो चार सर्ग तो मैं ही लिख डालूँगा'।

आर्यावर्त्त के कवि का अवश्य आशय ऐसा नहीं है परन्तु छन्द पढ़ने पर पाठकों के हृदय पर यही प्रभाव पड़ता है। कविवर के उपरोक्त छन्दों को थोड़ा सा परिवर्त्तित करके निम्नलिखित तो पढ़ने का कष्ट कीजिये

बोला नव युवक
प्रणाम कर जल्दी से
देव, मै लिखूँगा,
हो निदेश इस दास को,
महीनों से ऐसी प्रतीक्षा में
मै बैठा हूँ।

पूर्ण कर सकूँगा ऐसे
सहस महाकाव्य को।
लेकर कृपाण आप
शीघ्र चले जाइए।
जर्जर अवस्था ऐसी
फिर नहीं आने की।
वयोवृद्ध - वीर भाँति
हाथ दिखलाइयेगा !
भूल कर भी न लौट
आइए समर से !!
आर्य - रक्त मेरी
नस नस में प्रवाहित है
इसीलिए यौवन म,
जाने से हिचकता !!
बोला कवि चन्द स्नेह—
गद्‌गद् कण्ठ से
"पुत्र जल्द चिन्ता मिटी
भार—मुक्त हो गया
धन्य तू है, धन्य
कविरानी की कोख है,
जिससे जन्म लिया,
तूने आर्य देश मे।
आर्य धर्म कहता है,
युवकों से, घर बैठो,
भूल कर भी सोचो मत,
भारत - स्वतन्त्रता,
स्वर्ण - मल्लिका के मधु
अधरों का चिन्तन कर,

कवि - रम्य - मानस
विहारिणी का वरलो !
वृद्ध हो जाने पर,
सीखना धनुष वाण
लेकर कृपाण फिर
बनना वीर मातृभक्त,
'कवि और काव्य से
विदाई तब लेकर के'
रणचंडी के साथ
जूझना समर मे !!
ऐसा है आर्य धर्म !
ऐसा ही धर्म - मर्म
समझा 'आर्यावर्त्त' के
प्रसिद्ध कविवर ने !

हमें आशा है कि दूसरे संस्करण के पूर्व जल्ह का चरित्र अवश्य ही सुधार दिया जायगा क्योंकि 'आर्यावर्त्त' की महत्ता के गुणगान का सौभाग्य जिस कवि का बताया गया है उस युवक जल्ह का चित्र इस प्रबन्ध काव्य में बुरी तरह खटकता है।

भाषा-दोष

'आर्यावर्त्त' में कहीं कहीं भाषा-दोष भी आ गये हैं जैसे—

(१) अर्धमृत अश्वों का रँभाना।

(२) श्रृंगालों का कूकना।

किन्तु सजीव भाषा के सुन्दर भाषा प्रवाह मे ये प्रयोग विशेष रूप से खटकते नहीं है।

कैदी पृथ्वीराज जिस कमरे में बन्द थे, उसका वर्णन करते हुए एक स्थान पर लिखा है.—

द्वार था दृढ सीखचों का
बन्द तालों से,
सींखचे गहन थे—
किसी की भाँति उँगली
फाँक में घुसेड़ देना
घोर दुस्तर था
भय था कि सींखचों को
राजा कहीं रोष मे
तोड़ मत डाले
वज्रमुष्ठियों से खींच के,

इसमें 'गहन सींखचे' 'उगली' फाक मे घुसेड देना' 'घोर दुस्तर था, भय था कि तोड मत डाले "और वज्रमुष्ठियों से खींच के सभी प्रयोग चिन्त्य है। बाल की खाल निकालने वालों को तो और भी बहुत से प्रयोग मिल जावेंगे, किन्तु हमने ऊपर उन्ही बड़े दोषों पर ध्यान दिलाना उचित समझा है जो ऐसे सुन्दर काव्य मे अधिक खटक रहे हैं। पढते समय तो,—

इस चरण मे 'फणा' शब्द ही खटकता है, संस्कृत में तो 'फणा' शब्द शुद्ध है और मराठी मे 'फणा' ही बोला और लिखा जाता है। अवश्य, हिन्दी मे तो केवल 'फन' 'फण' लिखा जाता है परन्तु यह कहना कठिन है कि जो शब्द सस्कृत में शुद्ध है वह हिन्दी मे अशुद्ध भी हो सकता है या नहीं।

जैसे 'फण' से 'फणा' लिखा गया वैसे ही 'कण' से 'कणा' बना लिया गया। 'कणा' अवश्य सस्कृत हिन्दी दोनो में अशुद्ध है।

चिन्ताग्रस्त राजा जयचन्द का चित्र-वर्णन करते हुए कवि ने लिखा है'—

आखों मे पड़ के कणा भी
एक बालू की

व्यग्र कर डालती है
मन को शरीर को
किन्तु यदि ज्वाल मय
बाण बिधे उर में
उस मर्मान्तक व्यथा
का चित्र हायरे !
कौन आंक सकता है
भुक्त-भोगी छोड़ के !!

आलोचक महोदय विद्वद्वर मिश्र जी ने 'नैषध चरित" के एक श्लोक के भाव से मिलता जुलता यह भाव बतलाया है। नैषध के उस श्लोक का अर्थ यह है कि जब एक धान का ठूठ पैर मे चुभ जाता है तब न जाने कितना दर्द होता है परन्तु जब एक सुकुमारी के सुकुमार हृदय में सशरीर राजा ही बैठ गया हो तब उसकी व्यथा का क्या कोई अनुमान भी कर सकता है ?

हमारी राय मे ब्रजभाषा मे 'सागर' कवि के सवैये का भाव नैषध के भाव से भी बहुत ऊपर पहुँच गया है। 'सागर' ने लिखा है—

नेकसी काकरी जाके परे,
सु तो पीर के कारन धीर धरे ना,
एरी भट्ट, कल कैसे परे,
जब आँखि में आँखि परे निकरे ना।

जरा सी कांकरी के (कण) आँख में पडते ही पीड़ा के कारण धैर्य नहीं रखा जा सकता। फिर आँख में आँख ही पड़ चुकी हो और निकलती भी न हो तो फिर कैसे चैन मिल सकता है।

आँख में कंकड़ पड़ने की पीड़ा बयान करके उससे भी बड़ी चीज आँख में पड़ी बतलाकर लगातार पीड़ा के कारण चैन न

मिल सकने का अनुभव 'सागर' कवि बडी सुगमता से पाठकों को करा देते है। श्री हर्ष वही अनुभव पैर मे ठूँठ चुभा कर एव हृदय मे राजा की मूर्ति बैठाकर नहीं करा सके।

कहाँ तो आँख में ही एक बार कंकड एवं दूसरी बार आँख का पड जाना और कहाँ पैर मे ठूँठ का चुभना और पैर से बहुत दूर हृदय में मूर्ति का बैठाना।

कहाँ सागर का अनमोल सवैया और कहाँ नैपध का साधारण श्लोक।

'आर्यावर्त्त' के कविवर ने 'आँख में कंकड पडने' का भाव तो 'सागर' से अपनाया और 'उर मे मर्मान्तक बाण के विध जाने का भाव तो 'सागर' से आभास लेकर अपना अलग छन्द बना लिया। न 'सागर' का मजा आया और न नैपध का ही आनन्द !! 'कण' को 'कणा' लिखकर और अनावश्यक 'हाय रे' कविता में जोडकर छन्द नीरस भी कर दिया गया है। बालू का कण आँख में पड जाने से इतना कष्ट मन को या शरीर को तो नहीं हो पाता जितना एक 'काकरी' या किरकिरी के पड़ जाने से होने लगता है।

यदि किसी के प्रेम का ही यहाँ वर्णन होता (जैसा सागर या श्रीहर्ष ने किया है) तो आर्यावर्त्त का यह छन्द कुछ सुन्दर भी माना जाता परन्तु चिन्ता-ग्रस्त राजा जयचन्द के चित्र को प्रस्तुत करते समय यह छन्द असगत सा प्रतीत होता है।

'आँख की किरकिरी', 'हृदय के घाव', 'जिगर के दाग', 'दिल के सदमे' प्रेम के ससार से ही सम्बन्धित हैं। तभी अमीर मीनाई ने लिखा है :—

हर जगह जोशे मुहब्बत का
नया आलम हुआ
आख मे आँसू, जिगर म दाग
दिल में गम हुआ

इसी सम्बन्ध में ठाकुर गोपालशरणजी की भी उक्ति तो देखिये, कहते हैं :—

"आँख में यह किरकिरी
तो थी पड़ी !
वेदना फिर क्यों,
हृदय में है बड़ी
क्या निगोड़ी किरकिरी
यह दुखमयी
आँख से जाकर,
कलेजे में गड़ी
× + ×
अब जरा मुझ से
सुनो इसकी कथा
क्यों विकल है
आँख रहती सर्वथा
है किसी की मूर्ति
उसमें बस रही
बस इसी से, हो
रही उसकी व्यथा"

श्री हर्ष ने तो एक बड़ी मूर्ति हृदय में बैठाने का वर्णन किया है परन्तु यहाँ ठाकुर साहब ने एक बड़ी मूर्ति 'आँख' में ही बसा दी है।

वास्तव में आँख तो देखने की अपराधिनी है। हृदय प्रेम करने का अपराधी है।

प्रणय और पश्चात्ताप की पीड़ा में भेद

प्रेम संसार के प्रेमतत्व के वर्णन में इसीलिए आँख और हृदय का एक अटूट संबंध माना गया है। प्रेमी के हृदय की मर्मान्तक व्यथा-

वर्णन करते हुए चितवन की मादकता, आँखों की मस्ती, आँख की किरकिरी इत्यादि का वर्णन करना स्वाभाविक ही है।

किन्तु प्रेम-संसार मे जो बात स्वाभाविक हो वह सभी स्थान में स्वाभाविक ही रहेगी, ऐसा मानकर चलना ठीक नहीं। प्रेम-ससार से बहुत दूर, साधारण जगत की पृष्ठ-भूमि पर, किसी मानमर्दित व्यक्ति के उस हृदय से और आँखों से तो सरोकार ही क्या हो सकता है? जिस हृदय मे घोर पश्चाताप की अग्नि रह-रह कर धधक रही है, जहाँ एक व्यक्ति अपने किए पापों पर रह रह कर पछता रहा हो उसकी मर्मान्तक व्यथा के वर्णन करते समय आँख की किरकिरी या आँख की पीड़ा का उल्लेख करना हास्यास्पद नहीं तो क्या है।

प्रेमी के हृदय की मर्मान्तक पीडा एक प्रकार की होती है और अपमानित व्यक्ति के हृदय मे, घोर पश्चाताप के समय जो अनुभूति एवं रह-रह कर पीडा होती है वह बिल्कुल दूसरे ही प्रकार की होती है। दोनों में किंचिन्मात्र भी समता नहीं है। जहाँ एक के सबंध में आँख में कंकड पड जाने की पीडा का वर्णन करना स्वाभाविक होते हुए, सौन्दर्य प्रदान करेगा वहाँ दूसरे के संबंध मे यही उल्लेख अनावश्यक होने के कारण नीरसता की वृद्धि भी कर सकेगा।

इसीलिए 'आर्यवर्त्त' में चिन्ताग्रस्त शोकाकुल एवं घोर पश्चाताप की अग्नि से झुलसे हुए राजा जयचन्द की मर्मान्तक व्यथा के वर्णन करते समय 'बालू के कण द्वारा आँख में पीडा पहुचाने' का विषय असंगत एवं अनर्गल ही है।

मौलिक कल्पना

'आर्यावर्त्त' के जो कुछ दोप हमने ऊपर दिखाने का प्रयत्न किया है उनके कारण उसका साहित्यिक मूल्य अवश्य कम हो गया है। परन्तु इन थोडे-से दोषों को अलग हटाकर, जो बहुत सा भाग

रह जाता है वह इतना रमणीय है कि उसको पढते पढ़ते हृदय अनिवर्चनीय आनन्द से विभोर हो जाता है। अमित्राक्षर छन्द मे इतना सुन्दर भाषा-प्रवाह हिन्दी के किसी दूसरे काव्य में तो मिलेगा नहीं।

समालोच्य ग्रन्थ मे राष्ट्रीय युद्ध जिस भाव को लेकर कथित हुआ है वह भी कवि की मौलिक कल्पना का परिचायक है। वास्तव मे महाराज पृथ्वीराज और गौरी का अन्तिम युद्ध वर्तमान भारत के इतिहास का प्रथम पृष्ठ है। दिल्ली की वैदेशिक सत्ता की परम्परा का परिचालन इसी युद्ध से प्रारम्भ हुआ था और यही युद्ध युगानुयुग की भारतीय स्वतन्त्रता, संस्कृति, वैभव एव उत्कण्ठा का अन्तिम सर्ग था। 'आर्यावर्त्त' के कवि ने इसी अंतिम सर्ग को एक नूतन रूप में सजा कर बडा उपकार किया है। स्वदेशाभिमान के रंग में डूबी हुई इस काव्य की प्रत्येक पंक्ति सजीवता का परिचय दे रही है। भाषा के नवयुग काव्य के सुन्दर कण्ठहार मे 'आर्यावर्त्त' नि:सन्देह ही एक मनोहर रत्न बन कर अपनी आभा से हिन्दी साहित्य को और भी अधिक गौरवान्वित करेगा, ऐसी हमारी आशा है।

अंचल के 'करील' और 'लाल चूनर'

(१)

'मधूलिका', 'अपराजिता' और 'किरणवेला' के अनन्तर 'अचल' के दो काव्य संग्रह और निकले है—'करील' और 'लाल-चूनर'। 'अचल' की कविता मे स्वाभाविकता खूब है। शृङ्गार मे डूबी हुई, रस मे सराबोर कविता बडी सुगमता से पाठक के हृदय में घर कर लेती है। 'अचल' वास्तव में शृङ्गारी कवि हैं। उनका प्रेम वासनामय—कहीं कहीं विकराल वासनामय—है। उनकी 'तृष्णा', 'लालसा' और 'प्यास' अत्यन्त भौतिक तथा मास लुब्ध बताई गई हैं। हमारी राय मे यह अनुचित नहीं है। किन्तु उनकी भाषा में कोमलता और माधुर्य का इतना सुन्दर सम्मिलन है कि हर जगह मस्ती और मादकता की छाप से कविता मे एक नवीन सौन्दर्य दिखाई देता है। कृत्रिमता जितनी कम अंचल में है उतनी कम शायद ही दूसरे हिन्दी कवि मे मिले। अँग्रजी के प्रसिद्ध कवि 'कीट्स' ने एक स्थान पर लिखा है—"जिस प्रकार वृक्ष मे पत्तियाँ अपने आप आती रहती है उसी स्वाभाविक गति से कविता भी स्वत ही आनी चाहिए।" अचल की 'आत्म-प्रलय' कविता की भाषा पर थोडा ध्यान देने से ही उनकी स्वाभाविकता का पता चल सकता है—

> प्यार किया का मैने किसको, स्वयं नही यह जाना
> जलता रहा अनल-सा, अपने म न उसे पहचाना
> कौन सलोनी परी मुझे कर देती है पागल–सा
> कौन अनगयती रग रग मे भरती प्रबल पिपासा
> प्रेम ? एक अभिशाप—एक चीत्कार-भग्न सपना है
> मौन-मौन इस पूत चिता म, तिल-तिलकर तपना है। (मधूलिका)

'अंचल' का यह प्रेम भौतिक है, स्थूल है, वासनामय है। वह 'इश्क हकीकी' (आध्यात्मिक प्रेम) के झगड़े से कोसों दूर हैं और शायद हमेशा ही रहें। किन्तु जो भाव दिल मे जैसे उठे, वैसे के वैसे ही कविता मे भी आ गये हैं। यही उनकी सचाई है—ईमानदारी है—तारीफ है। हृदय की अनुभूति की गहराई, भाषा में सदा ही प्रभाव उत्पन्न किया करती है। शायद इसीलिए उनकी भाषा प्रभावोत्पादक हो गई है। 'प्रेयसी की वेणी' देख कर वह भाव विभोर हो जाते हैं—

> आज सजा गूँथी है तुमने क्या यह अपनी वेणी,
> कैसी मादकता उमड़ी है वेणी म मृगनैनी !
> ताल दे रही सृष्टि तुम्हारी इस वेणी की गति पर,
> न्यौछावर हो लुटा जगत् इस वेणी बन्धन-कृति पर।
> तारक जटित शरद रजनी में शान्त, सुघर सुखदेनी,
> मेघ किशोरी-सी अलबेली खिली तुम्हारी वेणी ! (मधूलिका)

'अपराजिता' के अच्छे-अच्छे गीत छायावादी आकाश की ओर चल दिये हैं। 'किरणवेला' मे प्रगतिवाद आरम्भ हो गया है। 'करील' और 'लाल चूनर' मे फिर वासनामय प्रेम और शृंगार का आकर्षक स्वरूप प्रकट हुआ है। सुबह का भूला शाम होते होते घर वापस आ गया है! —

> मेरा वश चलता, मैं बन जाता कौमार्य तुम्हारा ! —
> होठों मे निर्माल्य अरुणा बनकर मे छा जाता,
> अगों के चम्पई रेशमी परदों मे सो जाता !
> आँखों की सुर्मई गुलाबी चितवन में खो जाता,
> जब तुम सिहिर लजातीं, बनता मैं गालों की लाली
> शरद-समीरण में बनता मैं पुलकों की घन-जाली।
> मैं न छलकने देता मुस्कानों की गोरी प्याली।
> मेरा वश चलता—

कितनी सीधी-सादी भावमयी भाषा है। वाणी तो माधुर्य से ओतप्रोत है ही, स्वर-लहरी भी रोचक है। 'अंचल' प्रायः 'इन्द्रिय भोग-जन्य स्थूल आनन्द के कवि' और 'विद्रोही' भी कहे गये हैं। हमारी समझ में दोनों मत ठीक ही हैं। प्रगतिवादी कविताओं को छोड़ कर, जो कविताएँ उन्होंने लिखी हैं—जो भाषा भाव की दृष्टि से अत्यन्त सरस हैं—अधिकतर कामवासना से ही सम्बद्ध हैं। अधिकतर उनमें रूप-यौवन की मादक गंध ही पाई जाती है। पर, यदि केवल इन्हीं कविताओं पर दृष्टि डालें, तो भी वह विद्रोही ही ठहरते हैं। अवश्य ही इस विद्रोह का स्वरूप कुछ अजीब सा है। जिस शृंगार को देश नहीं चाहता, जो देश की वर्त्तमान अवस्था में हितकर नहीं कहा जा सकता, उसी शृंगार की कविता लिखना और फिर सीनाजोरी करना, 'विद्रोह' नहीं तो क्या है ? और वह शृंगार भी कैसा! बिल्कुल नग्न शृंगार! —जिसे पढ़ने और सुनने में भी इस युग में झिझक मालूम होती है!! 'किरणवेला' का एक उदाहरण पर्याप्त है—

> तुम्हें न जाने दूँगी अब तो मेरे सरस बटोही!
> देखूँ कैसे भाग सकोगे हे मेरे निर्मोही!
> नाच रहीं सागर की लहरें उष्ण रक्त में मेरे,
> डोल रही उर में अरुणय की व्याकुलता अति घेरे।
> यह लावण्य पुञ्ज क्षण-भर का कौन यहाँ सुख पाता ?
> प्रियतम का संयोग न होता, यौवन बीता जाता!
> खोल दिया अवगुंठन मेरा जब तब लाज कहाँ की,
> दरस परस के बाद अभी तो सारा सुख है बाकी!
> भ्रमित मृगी सी भटक रही मैं तृषा दग्ध चाहों में,
> अब तो कसलो धृष्ट! मुझे अपनी गोरी बाहों में!

यहाँ तक भी गनीमत है। 'लाल-चूनर' में तो प्रेम किसी से है, ब्याह किसी और से ही हो गया है। 'अन्तिम भेंट' की बानगी देखिये—

अबतक प्रिय ! मैं रही तुम्हारी, अब हो गई पराई ! —
मेरे आँचल में तेरी साँसों का स्वर भर आता,
सोच रही मैं जली, आज से या हूँ गई बुझाई !
शेष हो गया प्राणों का सुख-स्रोत — हृदय की बातें,
मधुर जागरण—मादक निद्रा की व क्वाँरी रातें
आज शिथिल बाहों के बंधन, चुम्बन-मन्त्र न गाते;
लगता यों प्राणेश ! मुझे, मैं उमड़ी, बरस न पाई !

शिष्ट सम्प्रदाय में, जहाँ लोकाचार की प्रतिष्ठा बाकी है, 'क्वाँरी रातों की प्रेम परिरंभण-कथा न जाने कितनी घृणा से सुनी जायगी, किन्तु भाषा में जो स्वाभाविकता और मादकता है उसे हृदयङ्गम करते ही हम 'अचल' की तारीफ करने को तैयार हो जाते हैं और उस तन्मयता में यह भी भूल जाते हैं कि अन्तिम पंक्तियाँ यद्यपि श्रीमती महादेवी वर्मा की—"मैं नीर-भरी दुख की बदली, उमड़ी कल थी, मिट आज चली"—इन पंक्तियों का रूपान्तर मात्र है तथापि उन पर 'अचल' ने अपनी छाप लगादी है। थोड़े-से रूपान्तर में, शब्दों के फेरफार में, भाषा सौष्ठव बढ़ ही गया है—घटा नहीं। व्यंजना की जो शक्ति 'बरस न पाई' में आ गई है वह 'मिट चली' में नहीं आ सकी। 'बरस न सकने' की गहरी निराशा आगे और भी स्पष्ट है—

लगता तुम असीम हो—सीमित मेरी विह्वल बाहें,
आ न सकूँगी तुम तक—मेरी रुद्ध हो गईं राहें।
अब तुम पिक की स्वर लहरी में सुनना मेरी चाहें,
लुटी कपोती के क्रन्दन में लग्न भ्रष्ट तरुणाई।
ओ जीवन के साथी ! मैं क्या देख रही थी सपना,
हँसती निर्दय नियति रोकती—'कह न किसी को अपना'!
समझा रहा दु:ख—'जीवन में एक मंत्र ही जपना'—
'रहे भूमि के ऊपर मेरे दीपक की अरुणाई' !

कविता हृदय के अन्तरतम कोने में तुरन्त ही पहुँच कर हमें गहरी निराशा में डाल देती है। और, यह निराशा कवि के प्रति नहीं है, बल्कि उस हृदयहीन समाज के प्रति है जिसने नाना प्रकार के बन्धन बनाकर लोकाचार की वेदी पर शुद्ध स्वाभाविक प्रेम का बलिदान कर दिया है। ये पंक्तियाँ पढ़ते-पढ़ते हमें उन कोमल कुसुम-कलिकाओं की याद आने लगती है जिनके यौवन का लावण्यपुंज प्रति वर्ष सामाजिक अत्याचार की ज्वाला में जल कर क्षार होता रहता है। अन्त में हम समझ पाते हैं कि कवि ने मर्यादा का अतिक्रमण करके अनुचित प्रेम का वर्णन नहीं किया, किन्तु उस सामाजिक अत्याचार की याद दिलाई है जिसको रोकना हमारा कर्त्तव्य है—साहस बाँधकर जो समाज के विरुद्ध खड़ा हो वह 'विद्रोही' नहीं तो क्या है?

अवश्य ही 'अचल' के प्रत्येक प्रेम गीत में सामाजिक अत्याचार से उत्पन्न निराशा नहीं मिलेगी। किन्तु अधिकतर गीतों में अनुभूति की गहराई मिलती है। जिसको कवि ने स्वयं अनुभव किया है उस व्यथा को, उस वेदना को, उस कसक को, उस टीस को कवि क्यों न व्यक्त करेगा? कवि उसे रोकना चाहता है, मगर वह रोके रुकती जो नहीं। वह विवश लिख उठता है—

> किसी के रूप की आसक्ति जीवन से नहीं जाती,
> नहीं जाती किसी की याद प्राणों से नहीं जाती।
> कभी जुड़ जाय शायद स्वप्न टूटा जो लड़कपन में,
> कभी छा जाय शायद फिर वही उल्लास तन-मन में,
> कभी बिछुड़ा हुआ साथी कहीं मिल जाय जीवन में,
> निराशा से भरे दिल से, यही आशा नहीं जाती।
> मुझे चारों तरफ घेरे विवशता की कठिन कारा,
> जलन इतनी—न होती लाल क्यों यह अश्रु-जलधारा,
> छिपाने को छिपा लेता विकल चीत्कार मैं सारा,
> मगर अभिव्यक्ति की मानव सुलभ तृष्णा नहीं जाती।

'लाल चूनर' की कई रचनाएँ इसी 'अभिव्यक्ति की मानव-सुलभ तृष्णा' के परिणाम है। वे उचित जँचे या अनुचित, हैं भावुकता से ओत प्रोत—और है हृदय के मनोवेगों के यथातथ्य चित्रण। सगीत का जादू तो उनमे आकर्षक है ही।

हाँ, कहीं-कही यदि कोई दोष दिखाई भी पडता है, तो वह 'अंचल' का उतावलापन है। यदि वह थोड़ा सब्र रखते तो शायद और भी सुन्दर कविता लिखी गई होती, परन्तु उनको धैर्य कहाँ ? वह तो उस बालक की तरह है जिसको सीटी मिलने की देर है। बस, मिलते ही वह बजाना शुरू कर देता है और सीटी बजाने मे ही तल्लीन हो जाता है। उसे यह देखने की फुर्सत कहाँ कि सीटी से आवाज ठीक भी आ रही है या नहीं। 'लाल चूनर' का एक गीत कुछ कुछ ऐसा ही है—

> संचित करो, लुटा दो चाहे, मै भण्डार तुम्हारा
> अर्पित है किशोर गायक का तन-मन चिन्तन सारा
> गूँथो मुझको या बिखेर दो, मै हूँ हार तुम्हारा

अपनी प्रेयसी से यह कहना तो स्वाभाविक ही है कि 'तुम मेरी सब कुछ हो', किन्तु यहाँ 'अचल' जी उससे कहते चले जा रहे हैं कि 'तू तो कुछ भी नहीं है, मैं ही तेरे हृदय का हार हूँ, मान न मान, मै ही तेरा भंडार हूँ।' प्रेयसी पूछ सकती है, 'क्यों' ?

अंचलजी का उत्तर है—"केवल इसीलिए कि मै सुन्दर गायक हूँ, मेरी किशोर अवस्था है और 'धन' छोडकर सारा 'तन-मन-चिन्तन' तुझे अर्पित करता हूँ। 'धन' लेकर तू करेगी क्या ? इसीलिए 'तन मन-चिन्तन' देने को तैयार हूँ। अत. समझ लो कि मै तेरा भंडार हूँ, तेरा हार हूँ।" प्रेयसी कह सकती है—"जी हाँ, मजनूं मियाँ! बडे खूबसूरत हो न ? हृदय का हार बनने आ गये। महादेवी वर्मा की ये पंक्तियाँ भी देखी है कि नहीं ?—'वह हार बनेगा क्या ? जिसने सीखा न हृदय को बिधवाना'।"

निरुत्तर होकर कवि को चुप हो जाना पड़ता है। कवि सोचता है—'जल्दी हो गई। गलती हो गई। मुझे हार नहीं बनना चाहिए था, कहना यही चाहिए था कि तू ही मेरे हृदय का हार है।" किन्तु आलोचक कहता है—यही गलती नहीं हुई, यहाँ भाषा-दोष भी है। "गूँथो मुझको या बिखरे दो, मैं हूँ हार तुम्हारा"—इसमें सोचने की बात है, जब बना बनाया एक हार मौजूद ही है तो फिर हार के गूँथने का तात्पर्य ही क्या हो सकता है? क्या 'नूह नारवी' का यह शेर नहीं पढ़ा?

गूँथे भी गये, जकड़े भी गये, सीना भी छिदा, गुलशन भी छुटा,
पहुँचे मगर उनकी गरदन तक, यह ख़ुश इकबाली फूलों की!

वास्तव में यहाँ उतावलेपन ने गीत बिगाड़ दिया है। उतावलेपन के अतिरिक्त दूसरा दोष 'अचल' में प्रगतिवादी बनने की सनक है। 'करील' की एक कविता हृदय में बरबस समवेदना का ऐसा स्रोत पैदा कर देती है जो कविता पढ़ लेने के बहुत देर बाद भी चलता रहता है—सारा वातावरण ही करुण-रस से ओत-प्रोत हो जाता है—

भूल जाती गंध अपना कुंज, जाती दूर जब उड़
भूल जाते प्राण काया छोड़ते ही शून्य में मुड़
हो न मेरी याद में विह्वल कभी भर अश्रु लाना।
भूल जाता फूल डाली को क्षणों में ही बिछुड़कर
याद मेघों को न करती दामिनी भी आ धरा पर
बुझ गया जो दीप उसमें अब न तुम बाती सजाना।
वेदना इससे बड़ी होगी मुझे क्या और सुन कर
तुम विकल हो याद करती हो मुझे चीत्कार-कातर
क्यों उठे मेरा वही फिर दर्द छाती का पुराना।
तुम सुखी हो, है न जीवन में मुझे इससे बड़ा सुख

हो कहीं भी तुम, रहे प्रमुदित तुम्हारा चाँद सा मुख
विश्व म बाकी न रहता फिर मुझे कुछ और पाना !!
भूलने में सुख मिले तो भूल जाना।

यदि गीत यहीं समाप्त कर दिया जाता तो न जाने इसमें कितना सौन्दर्य बना रहता। परन्तु उतावलेपन के अतिरिक्त प्रगतिवादी बनने की सनक में वह आगे बहके ही चले जाते है!—

आज मेरा क्या, खड़ा मैं युद्धरत उनके शिविर मे
नाश पूँजीवाद का जो कर रहे संसार भर मे
लक्ष्य, नवयुग के उजाले मे नई दुनिया बसाना।
भूलने मे सुख मिले तो भूल जाना।

एक सुन्दर गीत को अन्त में किस तरह बिगाड दिया है। पूँजीवाद के नाश से भला वियोगाग्नि का क्या सम्बन्ध? यदि बे सिर-पैर का यह बेसुरा अन्तिम छन्द न लिखा जाता तो गीत का सौन्दर्य विकृत न होता। वास्तव मे, प्रेम-वर्णन के, और प्रगतिवाद के, अलग अलग क्षेत्र है—उनकी मर्यादाएँ अलग-अलग है। 'नारी' के कितने ही सुन्दर चित्रों को 'अंचल' ने बड़ी भावभगी से सँजोया है, किन्तु अन्त मे नवयुग की सनक मे वे फीके पड गये हैं। गुलाब के फूलों के नीचे धुआँ दिया जाय तो उनका लावण्य धूमिल ही हो जायगा। हवा में उड़ती हुई हल्की रंग-बिरंगी तितली पर यदि छाप लगाने की कोशिश की जाय, तो या तो उसका सौन्दर्य नष्ट हो जायगा या उसके प्राण ही निकल जायँगे। आश्चर्य नही कि 'अचल' के कई सुन्दर गीत प्रगतिवाद की छाप के कारण विकृत एवं प्राणहीन बन गये हैं। फिर भी इन आलोच्य पुस्तकों में कवि की शृङ्गारिकता सचमुच हृदयग्राहिणी है। हाँ, शृङ्गार से यदि दूर रहा जाय तो ठीक हा है, किन्तु शृङ्गार का यदि वर्णन करना ही है तो मानवीय स्वभाव एवं मनोभाव का यथार्थ चित्रण ही मर्मस्पर्शी हो सकता है। वास्तव में, मन में आह्लाद उत्पन्न करने की शक्ति

तो वही रखता है। डॉक्टर जॉन्सन ने एक जगह लिखा है कि अधिक से अधिक लोगों को अधिक से अधिक समय तक आनन्द प्रदान कर सकने की शक्ति, मानव-स्वभाव के वास्तविक चित्रण से बढ़कर, दूसरी किसी चीज़ मे नहीं है❀। हमारी राय मे साहित्य की स्थायी निधि वही है जहाँ मनोवेगों का स्पष्ट चित्रण है। 'अंचल' ने भी यही तथ्य स्वीकृत किया है। उन्होंने कभी अँग्रेजी-कवियों के दामन पकड़ने की कोशिश नहीं की है। उनकी कविता का वातावरण ठेठ देशी है—अवश्य वह केवल वासनामय प्रेम से परिव्याप्त है। और, केवल इसी दृष्टि से हम उन्हें 'विद्रोही' कहते है। हम शृङ्गार को भला कहें या बुरा, सच तो यह है कि यौवन के कुसुमित सौन्दर्योद्यान मे कवि-प्रतिभा जन्य काव्य-वैचित्र्य का रमणीय उदाहरण 'अचल' के काव्य जैसा आधुनिक कविता मे तो नहीं है। उनकी कविता मे मधुरावृत्ति के साथ सरल और रसीली भाषा की अनूठी मिठास है। उन्होंने नारी मे सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य देखा है। उसे देखते देखते भी वह थकते नही है। शायद वह जन्म-जन्मान्तर देखते ही रहना चाहते हैं। उनके लिए नारी तो 'जीवन-वसन्त की पिक-सारिका' और 'पृथ्वी की रङ्गस्थली' तथा 'छवि के सपनों की रम्य शयन-शिला' से भी बढ़कर है। वह तो नारी को सौन्दर्य की खान ही समझते है—

तुम दिया की जोत-सी, तुम तो झमकते झूमरों सी,
अप्सरा के रूप सी, तुम तो किरण के नूपुरों-सी।
रूप की तुम एक मोहक खान!
देख तुमको प्राण खुलते, फूटते मृदु गान!
तुम प्रकृति के नग्न चिर-सौन्दर्य की प्रतिबिम्ब
सृष्ट सुषमा की पिकी की एक निरुपम तान।

❀ Nothing can please many and please long, but just representations of human nature.

तुम लदी कौमार्य कलियों से लता सुकुमार,
मुग्ध यौवन और शैशव की नई पहिचान।
तुम समीरण की सखी, शशि की सलोनी देह,
रूप की तुम एक मोहक खान!

'अंचल' के ऐसे गीत आधुनिक श्रृङ्गार रसात्मक काव्य-ग्रन्थों मे रत्न तुल्य है। किन्तु वह यदि 'प्रगतिवादी कृत्रिम काठ की टॉग' न लगाये होते तो उनकी गति न जाने कितनी सुन्दर और सुस्थिर होती। अस्वाभाविक एवं असंगत प्रगतिवादी कृत्रिमता ने काव्य का सौन्दर्य कई स्थानों में नष्ट-भ्रष्ट कर दिया है। एकाएक बिना सोचे-समझे वह कहने लगते हैं —

तुम वही हो गा जगाती जो हृदय की कोंपलों को
जानता हूँ मै तुम्हारे इन नशीले चोचलों को
इन कुलेलों मे न कोई रह गया मुझको प्रलोभन
एक से निष्प्राण हैं सारे तुम्हारे ये प्रसाधन
चाहता मै आज जलती आग, केवल आग तुमसे
चाहता मैं अब न प्याली में सुरा सा झाग तुमसे
आ रहा मानव-प्रगति का रक्त-रंजित वह सवेरा
फिर न जिसके बाद होगी रात, जड़ता का अँधेरा
और कर्कश रव शृगालों का मरण मे लीन होगा
जब न यह शोषण चलेगा, जब न कोई दीन होगा
रागिनी सी कामिनी तुम क्रान्ति के नव स्वर निकालो
छोड़कर जादूगरी संघर्ष के ये दिन सँभालो
देखकर तुमको बिछौने की गुलाबी सुधि न आये
युद्ध म बढते चलें छाती फुला, मस्तक उठाये

यह तो मानों रेशम में टाट का बखिया है। कहाँ 'रूप की खान नारी' और कहाँ उसी के 'सारे प्रसाधन निष्प्राण' कहाँ। 'समीरण

की सखी' और कहाँ 'नशीले चोचलेवाली'। कहाँ 'कौमार्य कलियों से लदी सुकुमार लता' एव 'चन्द्रमा-सी सलोनी देह' और कहाँ सहसा युद्ध मे आने की ललकार। कोमल हिरन की पीठ पर घास का गट्ठर। और, यह युद्ध कैसा? एकदम काल्पनिक। जिसका वर्णन केवल प्रगतिवादी बनने के लिए वह करते चले जा रहे हैं।

(२)

आधुनिक युग में शृंगारी कवि 'अञ्चल'

'चन्द्रालोक' में शब्द दोषों के उदाहरण पढते पढते सहसा हमारी दृष्टि, एक दिन इस वाक्य पर गई कि 'वनिता मम चेतसि' (स्त्री मेरे हृदय में है)। चन्द्रालोक के इस वाक्य मे 'वनिता' शब्द मे शब्द-दोष बताया गया है। लिखा यह गया है कि 'वनिता' शब्द से सारे नारी समाज का बोध होता है। सारी स्त्रियाँ किसी को भी प्रिय नही हो सकती इसीलिए स्त्री-विशेष अपनी प्रियतमा का नाम लेकर यह कहना चाहिये कि वही मेरे हृदय मे है।

कवि 'अचल' के 'करील' और 'लाल चूनर' इस शब्द दोष के अपवाद प्रतीत होते हैं। दोनो रचनाओं मे कवि सारे नारी-समाज का ही प्रेमी प्रतीत होता है। कवि की वैयक्तिक अनुभूति कुछ भी रही हो, कविताओं मे 'अचल' ने नारी मात्र को ही 'रगीली तित-लियाँ' 'जग तरंगिनी' 'पुलक पंखिनी' "गर्वोन्नित यौवन किरीटिनी' 'विश्व के प्रथम प्रात की हिम-कणिका' 'रति की स्थिर, दीर्घ एकान्त छाया 'शान्त मधुवन की नि शेष सित कामना, 'आग और सोने के पहाड़ों के बीच बहती पार्वत्य सरिता की रक्तधारा सी बेगुनाह' 'शारदीय ऊषा सी निष्कलंक', 'निश्चल सागर की आत्मा सी शान्त', 'उड़ती बालू-सी मृगतृष्णा मे एक 'ओसिस सी' और 'रूप-सिन्धु की निवासिनी चिर उर्वशी' बताया है। तात्पर्य यह है कि जितने सुन्दर विशेषण कवि-कल्पना मे आ सकते थे नारी-मात्र के लिये वे प्रयुक्त किये गये है। उनकी सम्मति में—

जीवन बसन्त के विभव की पिक-सारिका,
प्रेमियों का सिद्धि और ऋद्धि की सफल कला,
तुम प्रति निशि में बनती हो नव बधू,
नित नित नूतन हो।
प्रतिदिन सार्थक है होती सीमन्त की सिन्दूर रेख,
धरा और प्रकृति, मनोज की दो सहचरी, तीसरी तुम
लक्ष्य बेध करती हो जन मन हर के,
सद्य उगलते नवल चन्दन की बाड़ी सी।

'नारी मात्र से मिलन' की आकांक्षा न जाने कवि को कितना उत्कंठित कर देती है। वह आपे से बाहर होकर चिल्ला उठता है—

"किन्नरियों का रूप, लिये मदिरा की बूँदें लाल
टूट रहे कितने मेरे चुम्बन के तारे गाल!
उष्ण-रक्त में थिरक रही तुम ज्वाला गिरि सी लीन
लोलुप अंगों मे लय होकर आज बनो मनमीन
फिर देखो तो कितना सुरा है, मधु का वैभव कान्त
लुट जाता विवेक चिन्तन, रग रग बनता विभ्रान्त
सुरा सुराही! तुम में शतधे! कितना रास विलास
देखो तो इस वंचित मद्यप मे है कितनी प्यास!

कवि की इस 'प्यास'—'विकराल वासना मयी पिपासा'—की कतिपय आलोचकों ने अत्यन्त निन्दा की है। किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि चेतन-जगत् मे स्त्री-सौन्दर्य चेतना का अत्यन्त उत्कृष्ट शक्ति-केन्द्र माना गया है। हमारे शास्त्रों मे भी शृंगार रस का रंग श्याम माना गया है। आकाश की भांति वह अनन्त है।

अग्निपुराण में एक ही रस—शृंगार रस—को प्रधानता दी गई है, और इसी रस से अन्य रसों की उत्पत्ति बताई गई है। श्री भोज-राज ने अग्निपुराण के अनुसार 'शृंगार प्रकाश' मे तो यहाँ तक

लिख दिया है कि शृंगार ही एकमात्र रस है, 'वीर' 'अद्भुत' आदि मे तो 'रस' शब्द का प्रयोग केवल गतानुगतिकता—अन्ध परम्परा—से किया जाता है।

हमारे प्राचीन कवियों ने भी इसी शृङ्गार रस से ओत-प्रोत अत्यन्त सरस रचनाओं से संस्कृत भाषा के काव्य-भण्डार को सजाया है। फिर यदि 'अचल' ने शृङ्गार रस की सुन्दर रचनाओं से हिन्दी साहित्य भण्डार को सजाने का प्रयत्न किया है तो उसे निन्दनीय कैसे कहा जा सकता है? यदि अनन्तता का वैभव 'अचल' ने 'नारी' मे देखा हो तो इसमे अस्वाभाविक कौन-सी बात है?

अवश्य हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग एक शुष्क एवं नीरस युग रहा है जिसके कारण सर्वथा ऐतिहासिक थे। इस शुष्क युग में 'अचल' सरीखा, शृंगार-रस का कवि और प्रेमी कवि, अभी तक दूसरा नहीं हुआ। इसीलिए हमारे आधुनिक काव्य क्षेत्र में 'अचल' एक अजीब-सा, सबसे अलग सा, दिखाई पड़ता है। फिर भी 'अंचल' ने अत्यन्त सरस एव मनमोहक रचनाओं से काव्य-क्षेत्र मे अपना स्थान बना लिया है और उसकी उपेक्षा करना असम्भव प्रतीत होता है।

आधुनिक काव्यक्षेत्र में 'अचल' का स्थान, उसका महत्व एवं उसकी दुर्बलता समझने के लिये आधुनिक साहित्य के इतिहास पर एक दृष्टि डालनी आवश्यक है।

द्विवेदी युग के पूर्व अधिकतर शृंगारी कविताएँ ही प्रकाश में आ पाई थीं। नायिका-भेद, नखशिख के विषय लेकर समस्या-पूर्ति का प्रचार हो रहा था। हम यह तो मानने को तैयार नहीं है कि जिस काल को आजकल 'रीतिकाल' कहा जाता है उसमें शृङ्गार का ही आधिपत्य था और अन्य विषयों पर कविताएँ होती ही नहीं थीं। स्थान-स्थान पर हमने उस काल के ऐसे हस्त-लिखित ग्रंथ देखे है जिनमें वीररस, भक्तिरस एव अन्य विषयों

पर स्वतन्त्र रीति से बड़ी सुन्दर कविताएँ हैं। बीस-पचीस वर्ष बाद जब ये ग्रंथ प्रकाश पा सकेंगे तब हमे इस काल के नामकरण मे शायद परिवर्तन करना पडे। फिर भी, इस तथ्य को सही मानने मे आपत्ति नही कि द्विवेदी युग के पूर्व जो काव्य ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे उनमें अधिकतर कवित्त, सवैयों मे नख-शिख अलंकार अथवा नायिका भेद का ही बोलबाला था।

द्विवेदी युग राष्ट्रीय युग है, हमारी सम्मति में यह युग अभी भी समाप्त नहीं हो पाया। यह युग अभी तक चल रहा है। छायावाद और प्रगतिवाद इसी युग की शाखाएँ है। उनकी पृथक् सत्ता नहीं है। राष्ट्रीय युग मे सदा ही, प्रत्येक देश मे कोरे शृंगार को हतोत्साह करके ऐसे साहित्य का निर्माण हुआ करता है जो राष्ट्र मे जागरण कर सके। उसमे कोरे शृंगारी कवियों को स्थान ही कहाँ ? जागरण काल मे प्रत्येक देश में यही हुआ है। भारत की प्रत्येक प्रान्तीय भाषा मे भी यही हुआ है। अकेली 'हिन्दी' की तो बात ही क्या है ? सन् १८५७ ई० के स्वतन्त्रता-युग के अनन्तर प्रथम सन् १६०५ मे बंग-भंग आन्दोलन के साथ साथ सामूहिक रूप से देश मे जागृति प्रारम्भ हुई। सन् १६०५ से सन् १६४७ तक ४२ वर्ष का समय ऐसा समय है जो भारत के इतिहास मे स्वर्णाक्षरों मे लिखने योग्य है। इन्हीं ४२ वर्षों को हम 'द्विवेदी' युग अथवा 'राष्ट्रीय' युग कहते हैं। खडी बोली का आधुनिक रूप इन्हीं ४२ वर्षों में बन पाया है। जागरण काल हमेशा इतिवृत्तात्मक साहित्य से प्रारम्भ हुआ करता है। राष्ट्र निर्माण में इतिवृत्तात्मक साहित्य की आवश्यकता भी रहती है। फिर हमारे यहाँ तो एकदम अशिक्षा फैल रही थी। स्त्री शिक्षा का तो नाम भी नहीं रहा था एक बड़े अँग्रेज ग्रन्थकार का कथन है कि ब्रिटिश राज-सत्ता के पूर्व मध्य भारत मे, छोटे से छोटे गाँव में भी कम से कम एक संस्कृत पाठशाला और एक फारसी का मकतब मौजूद था। गाव गाव मे शिक्षा का अच्छा प्रचार था, परन्तु ब्रिटिश शासन के

४० वर्ष के भीतर ही सैकडों गाँवों से ये पाठशाला और मकतब न जाने कहाँ गायब होगए !!

राष्ट्रीय युग में साक्षरता एवं शिक्षा-प्रसार का प्रयत्न करना पड़ता है। स्त्री-शिक्षा के लिए ऐसे साहित्य की आवश्यकता पडती है जो बिना सकोच के माता और बहिनें, बहू और बेटियाँ पढ सकें। यदि उस समय के प्रकाशित 'कविता कलाप' में सरस शृङ्गार नहीं मिल पाया, कल्पना की आकाशगामिनी गति नहीं दिखाई पड़ी या भावना की गहन तन्मयता दृष्टिगोचर नहीं हुई तो यह दोष 'द्विवेदीजी के स्वभाव की शुष्कता' पर तो नहीं मढा जा सकता। उस समय 'उर्दू' मे भी आशिक-माशूक की चोचलें-बाजी को नफरत की निगाह से देखना शुरू हो गया था। मौलाना हाली के 'मुसद्दस' का असर हिन्दी कवियों पर भी पड़ रहा था। खानबहादुर 'अकबर' माशूक की कमर को 'खुर्दबीन' से देखकर 'शायरी का मजा किरकिरा' होना बता रहे थे।

जिस शृङ्गार को भरत मुनि ने 'रसाधिराज' बताया था उस शृङ्गार के प्रति घृणा तो कैसे हो सकती थी, किन्तु निर्माण-काल मे उस ओर देखने का अवकाश किसको था ? लेखकों और कवियों का ध्यान देश एव राष्ट्र के प्रति होना स्वाभाविक था। नई भाषा, नई कविता, नये-नये छन्द, नये-नये विषय, हिन्दी मे क्रान्ति करने लगे थे। भूगोल, इतिहास, नाटक, उपन्यास, चित्रकला शिल्पकला एवं साहित्य के विविध अगों की पूर्ति के हेतु पुस्तकें लिखी जा रही थीं। जिनको जिधर अच्छा दिखाई पड़ा, उसने उधर से ही विषय उठा लिये। राजभाषा अँग्रेजी का प्रभाव कैसे न पड़ता ? शेक्सपियर के नाटकों का अनुवाद तैयार हुआ। 'ग्रे' की 'एलेजी' का अनुवाद हुआ। श्रीधर पाठक जी ने 'ऊजडग्राम' अनूदित किया। लाला सीतारामजी ने तो न जाने कितने ग्रन्थों का अनुवाद किया। अनुवादों के सहारे-सहारे अँग्रजी कवियों की जीवनी हिन्दी मे लिखी जाने लगीं। हिन्दी लेखों मे अंग्रेजी कवियों

की रचना से उदाहरण प्रचुर मात्रा मे दिये जाने लगे। इस प्रकार हिन्दी मे अंग्रेजी की छाया और कलुषित छाया का सूत्रपात हुआ था। पहले शेक्सपियर, मिल्टन, ग्रे, लौंगफेलो और गोल्डस्मिथ को आदर्श माना गया। कालान्तर में वर्डसवर्थ, कीट्स, शैली के 'रोमान्स' की छाया का सूत्रपात हुआ। अंग्रेजी की इस कलुषित छाया ने आजकल हमारे साहित्य को बुरी तरह ढक लिया है। इसका प्रभाव पं० श्रीधर पाठक और लाला सीतारामजी के शुभ उद्देश्य से प्रारम्भ हुआ था। किन्तु बाद मे हम निरुद्देश्य नकल करते चले गये।

स्कूल में पढी हुई अंग्रेजी काव्य की निम्नलिखित पंक्तियाँ अभी तक हमारे हृदय-पटल पर प्रभाव जमाये हुए है—

'Tell me not in mournful numbers
Life is but an empty dream'

श्री महादेवी वर्मा ने बडी सुन्दरता से यही भाव निम्नलिखित पंक्तियों मे सजाकर रख दिया है।

अब न कह जग रिक्त है यह
पंक ही से सिक्त है यह
देख तो रज में अचंचल
स्वर्ग का युवराज,
तेरे अश्रु से अभिसिक्त है यह

और पं० सुमित्रानन्दन पंत की तो बात ही निराली है। उसमें स्थान-स्थान पर अँग्रेजी कवियों का भावापहरण या भाव साम्य दिखाई पडता है। 'ग्राम्या' में फूलों के नाम तक 'अंग्रेजी' के लिखे गये हैं। 'युगान्त' मे सन्ध्या का चित्र कितना पूर्ण बना दिया है। लिखते हैं —

बाँसों का झुरमुट
संध्या का झुटपुट
है चहक रहीं चिड़ियाँ
टी वी टी टुट टुट

इन पंक्तियों की प्रशंसा करते हुए प्रो० नगेन्द्र ने लिखा है 'संध्या की समस्त दिगन्तव्यापिनी शोभा का चित्रण न करके कवि ने केवल दो बातें ही दिखलाई है—'संध्या का झुटपुट' और बांसों का झुरमुट' जिसमे चिड़ियाँ 'टी वी टी टुट टुट कर रही हैं। इन्हीं दो तत्वों ने समस्त वातावरण उपस्थित कर दिया है।'

यह 'अंग्रेजी' वातावरण है या भारतीय ? 'चीं चीं चीं' करके चहकने वाली भारतीय चिड़ियाँ अब शायद अँग्रेजी बोलना ही पसन्द करने लगी हैं। जौन क्लेयर (John clare) की दो पंक्तियाँ तो देखिये—

Of everything that stirs she dreameth wrong
And pipes her 'tweet-tut' fears the whole day long.

विदेशी साहित्य को विधिवत् अध्ययन करके उसकी अमूल्य निधियों से अपने साहित्य को सजाने में हम कोई दोष नहीं समझते। किन्तु रूसी जर्मन, फ्रेंच सरीखे सुन्दर साहित्य का कुछ न लेकर केवल अपने 'शासक' के साहित्य की नकल करना न तो अपने साहित्य के लिये ही श्रेयस्कर हुआ और न द्विवेदी युग के महारथियों की ऐसी इच्छा ही थी। अपनी देशी परम्परा छोड कर विदेशी सत्ता के साहित्य के पीछे पड जाने की भावना से साहित्य का अत्यन्त अहित हुआ करता है। प्रसिद्ध जर्मन कवि शिलर (Schiller) ने एक बार कहा था कि 'अपनी प्यारी पितृभूमि की प्रिय परम्परा को कभी मत छोड़ना तुम्हारी शक्ति की मजबूत जड़े तो यही है'। आधुनिक डेनमार्क के प्रसिद्ध कवि जेनसन

(Johannes V. Jenson) ने विश्व के श्रेष्ठ कवियो की नकल करने मे अपने कई वर्ष नष्ट किये। अन्त में वे भी इसी परिणाम पर पहुँचे कि अपने देश की परम्परा पर दृढ रहते हुए ही विश्व-साहित्य का सृजन किया जा सकता है। प्रसन्नता यह है कि शब्दों के वाग्जाल और अस्वाभाविक कपोल कल्पना को छोड कर हमारे छायावादी कवि भी वापिस लौट रहे है।

यह सब लिखने का हमारा तात्पर्य केवल यह दिखलाने का है कि छायावादी युग कोई स्वतन्त्र युग नहीं था। अंग्रेजी साहित्य से प्रभावित होकर कई कवि और लेखक, अंग्रेजी ग्रन्थों का अनुवाद गद्य और पद्य में करने लगे थे। जो कवि कुछ काल के अनन्तर 'रोमान्टिक युग' के कवियों की नकल हिन्दी में करने लगे, उन्हें हम 'छायावादी कहने लगे। तेज धारा मे उठते बुदबुदों की यदि कोई स्वतन्त्र सत्ता मानी जा सकती है तो 'छायावादी युग' की भी स्वतन्त्र सत्ता मानने मे आपत्ति नहीं है। किन्तु यह कहना नितान्त निराधार है कि छायावाद' द्विवेदी-युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में आया था। राष्ट्र-निर्माण युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया कैसी ?

खडीबोली में मार्दव लाने का श्रेय छायावादी कवियों को दिया जाता है। कुछ अश में यह ठीक भी है। किन्तु इससे अधिक श्रेय श्री हरिऔधजी के 'प्रियप्रवास' और ठाकुर गुरुभक्तसिंहजी की 'नूरजहाँ' को मिलना चाहिए। अवश्य छायावादी कविता में कुछ शृङ्गार का यह वर्णन अधिकतर कल्पना और भावुकता के व्यायाम के लिए हुआ है। सुख-संभोग की प्रवृत्ति पुरुप में न दिखाकर प्रकृति के ही विभिन्न अङ्गों मे दिखाकर आत्म-सतोष करने की एक परिपाटी चल पड़ी। स्त्री पुरुष के आलिंगन न दिखाकर शेफाली कुंज के नीचे चाँदनी और अधकार का आलिंगन दिखाना रुचिकर प्रतीत हुआ। नायक और नायिका के प्रेम परिणय के स्थान में 'जुही की कली' और पवन' की केलि दिखाना अभीष्ट समझा गया।

निर्दय उस नायक ने
निपट निठुराई की
कि झोंकों की झड़ियों से
सुन्दर सुकुमार देह सारी झकझोर डाली,
मसल दिये गोरे कपाल गोल,
चौंक पड़ी युवती—
चकित चितवन निज चारों ओर फेर,
हेर प्यारे को सेज पास,
नम्रमुख हँसी—खिल',
खेल रंग, प्यारे संग।

'निरालाजी' की उपरोक्त पंक्तियाँ सुन्दर होते हुए भी हृदय-स्पर्शी नहीं हैं। इलाचन्द्रजी जोशी की 'विजनवती' का शृङ्गार भी ऐसा ही है।

कोई उसको जंघा में बैठाकर
घन कुंचित केशों को देती सुलझा
इस मिस से मुखस्पर्शन का सुख पाकर
अपना मन किंचित लेती थी बहला
सरस लास से कोई मृदु मुसकाकर
भृकुट धनुष-पर लोचन बाण चढ़ाती
अपने ही हिय की तृष्णा उकसा कर
अपना ही मानानल हाय बताती!!

यह सब कल्पना का व्यायाम, दिमागी कसरत ही तो है। छायावादी अतीन्द्रिय शृङ्गार कितना ही सुन्दर हो, हृदय के कोने कोने में नहीं पहुँच सकता। पंतजी का एक गीत 'भावी पत्नी के प्रति' बड़ा सुन्दर है। परन्तु अन्त तक पहुँचते-पहुँचते, धुँधले, कुहराच्छन्न रहस्यमय लोक में उसका सौन्दर्य ही विलीन होगया

है ! न जाने कितने सुन्दर गीतों का यही अन्त श्री माखनलालजी चतुर्वेदी की 'हिम किरीटनी' में भी पाया जाता है !!

नारी के प्रति स्वाभाविक आसक्ति होते हुए भी "द्विवेदी-युग-कालीन-शृङ्गार की उपेक्षा" का ही यह प्रभाव अभी तक चला आ रहा था !! नारी के शारीरिक सौन्दर्य एव इन्द्रिय जन्य शृङ्गार और वासना प्रेम-का वर्णन करने का साहस कवियो में नहीं रहा था। अतीन्द्रिय शृङ्गार की झाँकी दिखाकर आत्म-सन्तोष की परिपाटी चल पडी थी।

वास्तव में हृदय के भावों को व्यक्त करने में साहस, सचाई और ईमानदारी की अत्यधिक आवश्यकता होती है। जहाँ इन गुणों का अभाव होता है वहीं कविता कृत्रिम, भीरु, भारी भरकम एव अस्वाभाविक हो जाती है। हृदय दबाकर लिखने वालों की कविता में न तो तन्मयता आ सकती है और न शक्ति ही। छायावादी कविता अधिकतर इसी प्रकार की है जिसको पढकर एवं सुनकर पाठक एव श्रोता दोनो ही थक जाते है।

'अचल' और 'बच्चन' दोनो इन्हीं कवियो की छाया मे बढ़े है जिन्हें हम आज छायावादी कहते है किन्तु दोनो ने कालान्तर मे इस परिपाटी को तोडकर अपने-अपने स्वतत्र मार्ग निश्चित कर लिये।

'मधुबाला' 'मधुशाला' के अनन्तर 'निशा निमंत्रण' 'आकुल अन्तर' एवं 'सतरगिणी' मे बच्चन ने तो फिर कुछ-कुछ छायावाद की शरण ले ली है।

'अंचल की 'अपराजिता' के कई गीत धूमिल, अस्पष्ट, एवं रहस्य-लोक में विचरने वाले है किन्तु जैसे-जैसे समझ आती गई कवि इस तथ्य को स्वीकार करना गया कि यदि शृङ्गार का वर्णन ही करना है तो न तो राधाकृष्ण के प्रेम का शृङ्गार हृदयग्राही हो सकता है और न प्रकृति के प्रतीकों के पारम्परिक प्रेम का !! यही तथ्य स्वीकार करके 'अंचल ने इन्द्रियजन्य शृङ्गार की रचना प्रारम्भ

की थी और वह कविता यौवनोन्माद मे हृदय खोल कर लिखी गई है। इसीलिए उनकी कविता मे स्वाभाविकता बढ़ती चली गई है और सौन्दर्य-वासना से ओत प्रोत कविता अत्यन्त मोहक एव मधुर होती चली जा रही है।

साहित्य में, चचल, वृद्ध एव गभीर युवक दोनों ही हास्यास्पद माने जाते हैं। 'अचल' शृङ्गारी रचना छोडकर यदि रहस्यवाद, छायावाद एव वेदान्त पर रचना करते तो वह कविता इतनी स्वाभाविक एव मनमोहक न होकर हास्यास्पद एव नीरस ही होती। जो भाव हृदय मे उत्पन्न न होकर केवल मस्तिष्क मे उत्पन्न होते है उन भावों को भाषा में व्यक्त करने से स्वाभाविकता आ ही कैसे सकती है?

अग्रेजी कवि कीट्स ने एक स्थान पर लिखा था कि "मस्तिष्क का धर्मशास्त्र हृदय ही है" (Heart is the mind's Bible) इस वाक्य में कविता की शक्ति का रहस्य बड़ी सुगमता से समझाया गया है। आधुनिक मनोविज्ञान मे 'मस्तिष्क' चेतनावस्था है, 'हृदय' अचेतनावस्था माना गया है। कीट्स का तात्पर्य यह है कि चेतन ज्ञान का रुख, अचेतनावस्था के भावों के प्रति, घृणा का न होकर सम्मान का होना चाहिए, समालोचनात्मक निर्णय का न होकर आदर एव श्रद्धा का होना चाहिए। तात्कालिक एव अबौद्धिक अनुभव, आसक्ति, अनुराग, आवेग, एव सहज ज्ञान के प्रति मस्तिष्क की पूर्णभक्ति दिखानी आवश्यक है। दूसरे शब्दों में, यह कहना अनुचित न होगा कि सचाई और ईमानदारी के साथ हृदय के भावों को भाषा मे व्यक्त कर लेना ही मस्तिष्क का एकमात्र कर्त्तव्य है।

'अंचल' ने इस तथ्य को भली भाँति समझा है और इसीलिये शृङ्गारी कविता मे उसे आशातीत सफलता मिली है। वास्तव मे, आधुनिक युग मे, 'अचल' अपने प्रकार का एकमात्र कवि है। अवश्य, उसकी शृङ्गारी कविताएँ हिन्दी काव्य मे स्थायी निधि

रहेगी। रीतिकालीन श्रृङ्गार से 'अंचल' का श्रृङ्गार सर्वथा भिन्न है। 'अचल' का श्रृङ्गार अत्यन्त स्वाभाविक, हृदय से निकला हुआ एवं हृदयग्राही है। कारण यह है कि अचल स्वभाव से ही प्रेमी कवि है। नारी की 'शरमती चितवन' दिखाई पड़ते ही कवि का सम्पूर्ण अन्तर और बाह्य पुलकित हो उठता है और वह गुनगुनाने लगता है:—

उतर आई हृदय पर क्यों
तुम्हारी शर्मती चितवन ?
पकड़ पतवार मन की चल
पड़ा माँझी लहर खाता,
पड़ी डूबी अतल में नाव
कब को भग्न अज्ञाता।
मुझे अब ज्ञात, केवल गा रहा
प्रति रोम पुलकाकुल
उठे हैं बोल तरु की एक
डाली पर सहम बुलबुल !!

वह नारी सौन्दर्य को वर्षों देखते-देखते भी नहीं थकता। कहने लगता है:—

ठहर जाओ घड़ी भर, और
तुमको देख लें आँखें।
तुम्हारे रूप का सित आवरण
कितना मुझे शीतल
तुम्हारी कंठ की मधुलहरी
जलधार सी चंचल,
तुम्हारे चितवनों की छांह
मेरी आत्मा उज्ज्वल,

उलझती फड़फड़ाती प्राण-पंछी की तड़पन पायें।
ठहर जाओ घड़ी भर और, तुमको देखलें आँखें॥

'करील' मे तो अचल की कई विरह-कविताएँ अत्यन्त मार्मिक हो गई है। वैयक्तिक अनुभूति की छाप अत्यन्त गहरी और हृदय-द्रावक बन गई है। रह रह कर वह चिल्ला उठता है कि फिर वही पुरानी बात मेरे हृदय को मथे डाल रही है, मुझे बार-बार बीछी की तरह डक मारती चली जाती है —

आज ओरे कवि! धधकती है वही आह्वान-वाणी।
शून्य हियतल मे कहाँ से जग उठी गाथा पुरानी॥
फिर विकल सपने उड़ाती सी सजन की याद आई।
फिर पिपासाकुल दृगों ने उल्लसित तृष्णा लुटाई॥
दूर की सगिनि! अचचल मूक करदो यह समर्पण।
ओ विहगिनि! शून्यता में अब न हो अनुभूति दर्शन॥

छन्द पढने पर पाठक के हृदय मे प्रत्यक्ष अनुभूति 'दर्शन' होने लगता है। फिर 'दूर की सगिनि' का तो न जाने क्या हाल होता होगा!! उससे तो कवि यही निवेदन करता है कि 'यदि वह भूल सके तो बडा अच्छा होगा, वियोग के दुख को समय ही भुला देता है। बिछुडने के बाद सभी वियोगवह्नि को भूल जाते है। प्रकृति का यही नियम है। तुम्हे भी इसमे सुख मिले तो अवश्य भूल जाना'। 'अचल' की यह कविता पाठक के हृदय मे बरबस सम-वेदना का ऐसा स्रोत पैदा कर देती है जो कविता पढ़ लेने के बहुत देर बाद भी चलता रहता है। सारा वातावरण ही करुण रस से ओत-प्रोत हो जाता है।

× × × ×

यदि 'अचल' अपनी मर्यादा समझ कर अनुभव-जन्य विरह, सौंदर्योपासना एव वासना प्रेम की कविताओं तक ही सीमित

रहते तो उनकी कविताएँ वर्त्तमान युग में अद्वितीय मानी जाती। किन्तु इस युवक कवि का युगधर्म की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था। वही पुराने प्रेम की बातें इस आर्थिक वैषम्य एव शोषण के अत्याचारी युग में—कहाँ तक तृप्ति दे सकती थीं? पीडित मानव समाज के प्रति सहानुभूति दिखाना इस युवक कवि को इसीलिये आवश्यक हो गया। अंचल' ने लिखा —

> आज किस अन्तर्मुखी गतिहीनता में बद्ध कविगण?
> क्या कुरेदा ही करेंगे खोखले अपने सड़े व्रण?
> मूक तृण-तृण से द्रवित संवेदना की टास पाते
> किन्तु छिछली ठठरिया की ओर उनके दृग न जाते
> चाहता मैं त्रस्त के विश्वास की नींवें हिलाकर
> खोलना उनकी अगति-मूलक कला की पोल जर्जर

किसी की पोल खोलने में, बिना व्यंग के, हृदय पर कोई चोट नहीं पडती। बिना चोट के, ऐसी रचनाएँ हृदयग्राही नहीं हो सकती। किन्तु 'अंचल' की प्रगतिवादी कविताएँ सिद्धान्त-विवेचन से अधिक दूर नहीं जा सकीं—

> गूँज रहे मेरे कानों मे
> जन जागृति के अभिनव स्वर
> दौड़ गई मेरे प्राणो पर
> श्रम सत्ता की नई लहर
> मै कहता हूँ—वर्ग-चेतना
> युग की प्रबल चुनौती है
> युग युग के विकास की
> विश्वासों की रुकी मनौती है।

इस पद में नये युग की वस्तुस्थिति के साधारण वर्णन के अतिरिक्त और कोई तथ्य ऐसा नहीं है जिससे हृदय पर कोई भी प्रभाव उत्पन्न हो सके।

नया समाज बनता है
नये आधार जिसके सब ,
खड़ा ललकारता ईमान
मेरा, क्यों रुकूंगा तब ?
नये युग की सजी वेदी,
चढा दूँ आज अपना सब,
मिलादूँ तार मन का, क्रांति
के जलते बमों से अब ।
पड़ा मैं बन्द जीवन में
मुझे बाहर निकलने दो !!

उपरोक्त पद्य मे कवि की कोरी आकांक्षा का ही आभास मिल पाता है। बात यह है कि जब तक कवि ने आर्थिक शोषण का अथवा आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न अत्याचार का स्वय अनुभव नहीं किया हो तब तक कोरे सिद्धान्त का विवेचन अथवा कोरी वस्तु-स्थिति का वर्णन रोचक नहीं हो सकता। ऐसी कविता वही हृदय-ग्राही हो सकती है जिसमे कहीं भी "आर्थिक वैषम्य" का नाम न आते हुए भी कुछ वास्तविक दृश्य ऐसे बतलाये गये हों जिनको पढ लेने पर पाठक के हृदय पर स्वतः यह प्रभाव उत्पन्न होता हो कि ससार मे शोषण और अत्याचार वास्तव में बहुत ही बढ गया है और वह आर्थिक वैषम्य का ही परिणाम है। "आर्थिक वैषम्य" एवं 'शोषण' का नाम लेकर उनकी बार-बार दुहाई दे देकर उन्हें कोसते रहना तो गद्य मात्र है कविता नहीं।

'अंचल' स्वभाव से ही नारी-प्रेमी और शुद्ध शृ गारी कवि हैं। 'शोषण' और 'शोषित' के झगडों से उनका हृदय बहुत दूर प्रतीत होता है। इसीलिये जहाँ शृङ्गारी कविताएँ अत्यन्त स्वाभाविक प्रतीत होती हैं वहाँ प्रगतिवादी कविताओं मे अस्वाभाविकता अलग दृष्टिगोचर होती है। मालूम यह होता है किसान और

मजदूर के सुख दु.ख का तो कवि को किंचित् भी अनुभव नही है, किन्तु केवल युग धर्म के नाते वह उनसे कोरी समवेदना प्रकट कर रहा है। जहाँ वह स्वय 'मजदूर' का बाना धारण करके अपने दु:ख और दीन अवस्था का वर्णन करने लगता है वहाँ कविता कृत्रिमता से बुरी तरह दब गई है। जहाँ थ-, थकाये दीन क्षीण श्रमिक बनकर भी वह 'फेशनेबुल' आधुनिक ललनाओं की सौन्दर्योपासना के गीत गाने लगा है वहाँ कविताएँ नीरस और फीकी ही नहीं अत्यन्त हास्यास्पद भी हो गई है।

वास्तव मे मजदूर न होते हुए भी कवि जब मजदूर बनकर अपनी दु:ख गाथा सुनाने लगता है तो वह अरण्य रोदन सा ही प्रतीत होता है। जो वस्तु नहीं है उसका अस्तित्व किसी न किसी प्रकार बतलाना साहित्यिक धृष्टता नहीं तो क्या है? कृत्रिमता प्रभावोत्पादक कैसे हो सकती है? कवियों को यह बात मालूम होनी चाहिये कि 'कविता' 'वकालत' के क्षेत्र से बहुत दूर है। एक दूसरे से असम्बन्धित चीजा हैं। 'करील' का एक गीत इस सम्बन्ध मे ध्यान देने योग्य है लिखते हैं —

शाम को
सिविल लाइन्स की सड़कों पर चली जा रही
आधुनिकाओं की सुरम्य टोली यह।
गाल लाल, अधर लाल, और वर्ण नख लाल,
मूंगे के देश की रंगीली ज्यों तितलियाँ।
एक एक शत शत शमा का प्रकाश ले,
जाती चलीं कामदेव की ये भगिनियां।
दिन भर का थका श्रमजीवी मै
काम पर से आ रहा
अपने स्वत्वों और जागरूक युग चेतन्य—
के प्रति सजग विकासोन्मुख मजदूर मे।

देवी अमन्नोप मेरे जीवन की प्रेरक शक्ति।
किन्तु ये नमक की पुतलियाँ,
पैदा करती रक्त म
कैसी रस भरी झनझनाहट एक,
कुछ कुछ बिजली के 'शाक' सी

उपरोक्त पद्य मे, थके हुए श्रमिक के मानसिक क्रिया विधान पर बिलकुल ध्यान नही दिया गया। पाश्चात्य सभ्यता मे पली हुई 'फेशनेबिल' आधुनिक ललनाएँ अँग्रजी पढे हुए भावुक और सौन्दर्योपासक कवि का ध्यान भले ही आकर्पित कर सकें, किन्तु यह धारणा सही नहीं है कि उस 'फेशन' मे ऐसा सार्वभौमिक एव सर्वकालीन सौन्दर्य होगा जो थके हुए अशिक्षित भारतीय श्रमिक के रक्त में भी झनझनाहट पैदा कर सकेगा। ऋणग्रस्त, अशिक्षित एव रूढियो मे पला हुआ अधविश्वासी मजदूर इस पाश्चात्य सभ्यता के वातावरण को देखकर या तो सहसा चौंकेगा अथवा उसे घृणा या उपेक्षा की दृष्टि से ही देखेगा। वास्तव मे, उपरोक्त पद्य मे, आधुनिक श्रमिक के मनोवेगो का किंचित् भी यथार्थ चित्रण नहीं हो पाया। इसका एक मात्र कारण यह है कि कवि ने स्वय अपने यौवनोन्माद से प्रभावित मनोवेग को, परिश्रम से थके हुए मजदूर का ही मनोवेग मान लिया है। 'अंचल' की रचनाओं मे ऐसे नीरस और शुष्क गीत भी यत्र-तत्र बिखरे हुए मिलते है। ऐसे पद्यों को हटा देने के बाद केवल शृङ्गार और प्रेम के गीतों मे जो सरसता और स्वाभाविकता, मादकता एव माधुर्य का सुन्दर सम्मिश्रण है वह हिन्दी साहित्य मे अवश्य अद्वितीय है।

(३)

प्रगतिवाद का स्वरूप और कवि 'अंचल'

हिन्दी मे प्रगतिवाद का अभी शैशव चल रहा है। उसका स्वरूप अभी तक अस्पष्ट है। प्रारम्भ मे ही वह राजनीतिक वितंडावाद में

उलझ गया है। १६४२ के अनन्तर जो कांग्रेस और कम्यूनिस्टों का मतभेद हुआ, प्रगतिवाद उसका शिकार बन बैठा है। साहित्य में मार्क्सवाद और गाँधीवाद के अखाड़े अलग-अलग कायम हो रहे हैं। एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देख रहे हैं—एक दूसरे की उपेक्षा कर रहे हैं। परन्तु दोना 'प्रगतिवादी साहित्य' का अहित कर रहे हैं। प्रगतिवाद से तात्पर्य जनवाद अथवा समाजवाद से है। 'आर्थिक वैषम्य को हटाकर, समान रूप से धन के नियमित वितरण से समाज का पुनर्निर्माण करना' समाजवाद का प्रमुख उद्देश्य है। ससार में जैसा आर्थिक वैषम्य आज दिखाई दे रहा है वैसा कभी न था। आज एक के पास करोड़ों रुपया है और करोडों के पास एक रुपया भी नहीं, खाने को दाने भी नहीं है। इस समस्या के सुलझाने के दो ही मार्ग हैं। एक तो वह प्राचीन पद्धति, जो इस बात पर जोर देती है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी अपनी आवश्यकताओं को कम करे, सभी मनुष्यों की उचित सहायता करना अपना कर्त्तव्य समझे, जो धनी हैं वह धन का बहुत भाग दान पुण्य मे या धार्मिक सस्थाओ मे लगाये। इस्लाम का यह आदेश कि हर एक इन्सान अपनी आमदनी का दशाश खैरात में दे, जिसको लेकर राज्य गरीब जनता का उचित प्रबन्ध करे—प्राचीन पद्धति का ही अंग है। वेदान्त का यह आदेश कि सब जीवों को अपना भाई माना जाय और प्रत्येक मनुष्य अपना अपना कर्त्तव्य—बिना फल की अभिलाषा के—पालन करे, इसी प्राचीन पद्धति का अंग है जिसकी नींव पर गाँधीवाद का प्रासाद खड़ा किया गया है। इसमें सदेह नहीं कि सारा ससार यदि चरखा कातने लगे, और ससार का प्रत्येक जन अपनी आवश्यकताओं को कम करके अपने पडोसियों का दुःख बटाने लगे, तो विश्व-शान्ति बडी सुगमता से स्थायी हो जाय, किन्तु यह बात व्यावहारिक नहीं मालूम होती। मनुष्य का स्वभाव स्वार्थी है। वह स्वेच्छाचारी भी है। अपने थोड़े से सुख के लिए वह बहुतों का अहित किया करता

है। जब तक मनुष्य-स्वभाव नहीं बदला जाता, गाँधीवाद सारे जन-समाज में अधिक सफल नहीं हो सकता। गांधीवाद वहीं सफल हो सकता है जहाँ के समाज का नैतिक स्तर बहुत ऊँचा हो, जहाँ परोपकार की भावना हो, जहाँ जनता के हृदय में अन्ध-विश्वास न होकर धर्म का अति उज्ज्वल रूप विद्यमान हो। जहाँ ऐसा नहीं है वहाँ गांधीवाद के पनपने में बहुत समय की आवश्यकता है। भारत के अशिक्षित वातावरण में भी, राजनीतिक एवं सामाजिक क्षेत्र में भी, गांधीवाद ने जो सफलता प्राप्त की है वह वास्तव में एक आश्चर्य है। किन्तु आर्थिक वैषम्य मिटाने में सफलता के अभी तक कोई लक्षण दिखाई नहीं दिये—न कोई ऐसी योजना ही बताई गई है जिससे निकट भविष्य में इस वैषम्य के मिट जाने की संभावना हो सके। फिर भी यह प्राचीन भारतीय परंपराओं के अनुकूल है और इसीलिए इससे अधिक आशा की जाती है।

दूसरी पद्धति आधुनिक पद्धति है। वैज्ञानिक आविष्कारों के द्वारा जब औद्योगिक विप्लव के बाद 'मशीन' युग स्थापित हुआ तब यूरोप में प्रथम-प्रथम आर्थिक वैषम्य ने विकट रूप धारण किया था। एक मशीन लगाकर कारखाना खोलनेवाला लाखों रुपया साल में कमा लेता था और उस कारखाने में काम करनेवाले लाखों मनुष्य भूखों मरते और उनके श्रम का साधारण मूल्य भी उन्हें नहीं मिलता था। 'कार्लमार्क्स' ने गम्भीर चिन्तन करके आर्थिक वैषम्य मिटाने की जो पद्धति निकाली उसको समाजवाद या 'कम्यूनिज्म' नाम दिया गया। वास्तव में यह 'वैज्ञानिक' पद्धति है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि गांधीवाद अवैज्ञानिक है। अवश्य इतना कहने को हम विवश हैं कि जहाँ गांधीवाद का हृदय से सम्बन्ध अधिक है वहाँ कार्लमार्क्स का अधिक सम्बन्ध मस्तिष्क से है। इतिहास पढ़कर मार्क्स इस नतीजे पर पहुँचा कि यह सारा संसार प्रारम्भ से ही धन पर चला है, धन ही संसार के कष्टों का एक मात्र कारण है। जितनी भी लड़ाइयाँ हुईं उनकी जड़ में आर्थिक

लाभ का प्रश्न ही था, दीन-दरिद्र की कथा का न वर्णन करके इतिहास ने ऐश्वर्यशाली राजाओं की कथाएँ ही वर्णित की है। राजनीतिक, सामाजिक, मानसिक, नैतिक या आध्यात्मिक सिद्धान्तों का निश्चय भी समय-समय पर धन की उत्पत्ति द्वारा ही हुआ है, जनता के परस्पर झगड़े भी 'धन' के कारण ही हुए हैं, इसलिए इस 'धन' पर ही कुठाराघात किया जाय। व्यक्तिगत संपत्ति एक कलंक है जिसको समाप्त कर दिया जाय, व्यक्तिगत सपत्ति नष्ट होने पर ही शारीरिक परिश्रम का मूल्य उचित लगाया जा सकेगा, शारीरिक परिश्रम का सस्ते-से-सस्ते दामों खरीदा जाना असंभव हो जायगा, सभी संपति समाज की हो जायगी और धनी-गरीब का भेद-भाव मिट जायगा। मार्क्स कहता है कि ससार मे प्रारम्भ से ही दो वर्ग रहे है—एक पूँजीपति, दूसरा प्रौलीतेरियत (मजदूर) इन दोनों का संघर्ष प्रारम्भ से ही चला आ रहा है, किन्तु उन दिनों धर्म और अध्यात्मवाद की गडबड मे इस ओर अधिक ध्यान नहीं जाता था। भौतिकवाद के युग मे यह सघर्ष प्रकाश मे आ चुका है। व्यक्तिगत संपत्ति नष्ट होते ही यह सघर्ष बन्द हो जायगा। सक्षेपत यही मार्क्सवाद है। समाज की एकता एवं समाज के भीतर समानता इसके प्रमुख सिद्धान्त है। रूस मे मार्क्सवाद अस्सी प्रतिशत कार्य रूप मे परिणत हो चुका है और अन्य देशों में भी रूस की कार्य-प्रणाली की नकल करने का प्रयत्न किया जा रहा है। द्वितीय महायुद्ध के अनतन्र, रूस की शक्ति बढ जाने से, अवश्य ही संघवाद (Communism) दूसरे देशों में भी पैर जमाने में सफल होगा— ऐसी धारणा प्रमुख राजनीतिज्ञों की है। स्वार्थ को परमार्थ मे परिणत करने मे तथा गरीब और दरिद्रनारायण को ऊँचा उठाने के उद्देश्यो मे गांधीवाद और मार्क्सवाद मे कोई अन्तर नहीं है—दोनों एक ही है। हाँ, समाज के पुनर्निर्माण के सम्बन्ध मे दोनो की नीति एव प्रणाली मे महान् अन्तर अवश्य है। भारतवर्ष में कौन अधिक सफल हो सकेगा? यह प्रश्न राजनीति का है, साहित्य का नहीं।

यहाँ पर प्रश्न हमारे सम्मुख केवल यह है कि प्रगतिवादी साहित्य का आधार गांधीवाद होना चाहिए या मार्क्सवाद ? उस साहित्य का निर्माण किस प्रकार होना चाहिए ? वर्तमान प्रगतिवादी साहित्य का रूप ठीक है या नहीं ? और अगर ठीक है तो उस साहित्य में आधुनिक कविताओं का स्थान क्या है ?

जब दोनों 'वादों' का मुख्य उद्देश्य आर्थिक वैषम्य को हटाना ही है और जब दोनों मे दरिद्रनारायण की स्थिति को ऊँचा उठा कर समाज मे समानता का भाव प्रतिष्ठित करना समीचीन समझा गया है, तब तो प्रगतिवादी साहित्य के आधार दोनों हो सकते हैं। 'अकबर' साहब ने लिखा है--'हकीम और वैद्य यक सॉ है, अगर तसखीस अच्छी हो। हमें मेहत से है मतलब, बनफशा हो कि तुलसी हो।'' जिनका दृढ विश्वास सर्गवाद मे हैं उनको भी यह बात तो माननी पडेगी कि उसका रूप स्वतन्त्र देश में जैसा हुआ करता है, परतन्त्र देश मे वैसा ही स्वरूप प्राप्त करने का मार्ग सर्वथा भिन्न प्रकार का होता है। सबे राष्ट्रीयता की भावना प्रजातन्त्र मे ही हो सकती है। जहाँ वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं है, छापेखाने की स्वतन्त्रता नही है, वहाँ समानता या आर्थिक प्रजातंत्र के भाव प्रजा में फैलाये भी कैसे जा सकते है ? इसीलिए अपनी पुस्तक 'मार्क्सवाद और राष्ट्रीय प्रश्न' में स्तालिन ने भी स्विटजरलैंड और अमेरिका की डेमोक्रेसी' की प्रशसा की है। विदेशी शासन में स्वतंत्र विचारों पर ही कुठाराघात किया जाता है, इसी लिए मार्क्सवादियो को प्रथम-प्रथम राष्ट्रीयता एव राजनीतिक प्रजातंत्र के प्रयत्न में सहायता देना आवश्यक हो जाता है। वास्तव में, राष्ट्रीयता एवं मार्क्सवाद का मार्ग, परतन्त्र देश मे एक बडी सीमा तक, इतना मिला-जुला होता है कि दोनों को अलग-अलग करना असंभव हुआ करता है। जहाँ मार्क्सवाद यह चाहता है कि आर्थिक वैषम्य बिलकुल हटा दिया जाय, वहाँ राष्ट्रीय भावना भी इस ओर ध्यान दिलाती है कि अत्यन्त दरिद्रता सदा ही राष्ट्र

के नैतिक पतन का कारण होती है—अतएव राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य को इतना साधन अवश्य मिल जाना चाहिए कि वह अपने कुटुम्ब का भरण पोषण कर ले- शिक्षा का भी सबको समान अधिकार मिलना चाहिए और शिक्षित मनुष्य को शारीरिक परिश्रम का मूल्य ज्ञात होना चाहिए। पर्याप्त वेतन ए। पर्याप्त शिक्षा के प्रश्न राजनीतिक समानता की ओर अग्रसर करते हैं। नागरिकता, वोट देने में समान अधिकार, राजकार्य मे समान अवसर, सदा ही सामाजिक समानता की ओर ले जाते हैं। छूआछूत, जाति-पॉति, भेद भाव, कठमुल्लापन एवं कट्टरपंथ, अंधविश्वास, रूढ़ियॉ और ढकोसले-- राष्ट्रीयता के विकास में रोड़े होते है, और प्रत्येक राष्ट्रीय सरकार इनका मूलोच्छेदन करने का भरसक प्रयत्न किया करती है। वैयक्तिक स्वतन्त्रता एव समानता की भावना क्रियान्वित हो जाने पर आर्थिक समानता प्रजा के हृदय मे स्वत. ही आया करती है। बडे-बड़े उद्योगो पर राज्य अपना अधिकार करने लगता है और धीरे-धीरे आर्थिक समानता अच्छी जड़ जमाकर समाजवाद और फिर संघवाद या मार्क्सवाद की ओर आकर्षित किया करती है। वास्तव मे, वर्गवाद तक पहुँचने मे राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्रथम सीढ़ी है। बिना राष्ट्रीय स्वतंत्रता के, न तो देश म शिक्षा-प्रचार हो सकता है, न भेद भाव एव अंध-विश्वास मिट सकता है। श्रमजीवियों की अवस्था सुधारने, उनके जीवन के स्तर को ऊंचा उठाने और उनकी कार्य शीलता मे वृद्धि करने के लिए श्रम-सम्बन्धी कानून ठीक ठीक केवल राष्ट्रीय सरकार ही बना सकती है। उसके बाद सघवाद का प्रचार अत्यन्त सुगम हो जाता है। बिना राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के, अन्तर्राष्ट्रीय बनना—कोरा स्वप्न और कपोल-कल्पना है, उसमें कोई तथ्य नही है।

राष्ट्रीयता या देश-भक्ति मे जो भय है उसे भी समझ लेना चाहिए। देशभक्ति की प्रबल लहर जब-जब आया करती है, तब-तब श्रमजीवियो को लाभ न होकर सारा लाभ पूँजीपतियों को

या उनके सहायक मध्यवर्ग को होता है। देशभक्ति का एक नशा हुआ करता है। भोली प्रजा उस नशे में भला-बुरा भूल जाती है। स्वार्थी पूँजीपति और मध्यवर्ग वाले अपने स्वार्थों को साधना भली-भाँति जानते हैं। देशभक्त के देशभक्त और लाभ का लाभ!! उधर श्रमजीवी अपनी निःस्वार्थ भक्ति में मारे जाते हैं!! इङ्गलैंड और अमेरिका के पूँजीपतियों ने दोनों महायुद्धों में जो करोड़ों रुपया छलबल से कमाया वह किसी से छिपा नहीं है। किन्तु श्रमिक वर्ग को उसके अनुपात से सौवाँ क्या हजारवाँ भाग भी न मिल पाया! स्वदेशी की लहर ने भारत की कितनी मिलों के मालिकों को असंख्य द्रव्य दिलाया, किन्तु श्रमजीवी को क्या मिला? वर्तमान स्वदेशी सरकार एवं प्रान्तीय सरकारों में पूँजीपति एवं मध्यवर्ग का बोलबाला प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है। पत्रकार-क्षेत्र में भी पूँजीपतियों के एकाधिपत्य के प्रयत्न वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर ही कुठाराघात करना चाहते हैं। वास्तव में, ऐसी देशभक्ति, प्रगतिवादी साहित्य की आधारशिला नहीं बन सकती। विदेशी शासन को हटाकर अब हमारा ध्यान आर्थिक वैषम्य की ओर रहना चाहिए। प्रगतिवाद का वास्तविक लक्ष्य इस आर्थिक वैषम्य को हटाना ही है। किन्तु इस प्रगतिवाद की पृष्ठभूमि हमारा देश ही हो सकता है, कोई दूसरा देश नहीं। और, हमारा देश कैसा है? जो अंध-विश्वास और रूढ़ियों का गुलाम है और जिसमें शिक्षा का प्रसार है ही नहीं। जहाँ चिट्ठी-पत्री पढ़ लेने वालों की संख्या दश प्रतिशत से अधिक नहीं है। ऐसे देश में प्रगतिवादी साहित्य की रचना सर्वसाधारण की भाषा और अत्यन्त सुगम भाषा में ही होना अनिवार्य है। सुगम भाषा के साथ-साथ भारतीय जीवन और भारतीय रंग में रँगा हुआ साहित्य ही सफल हो सकता है। जो साहित्य लाल रूस और लाल चीन की दुहाई देता है—जो साहित्य इंग्लैंड, फ्रान्स, स्पेन और जेकोस्लोवेकिया के जीवन की झाँकी दिखाकर फासिस्ट-विरोधी नारों को ही सर्वेसर्वा मान बैठता है,

वह साहित्य उद्देश्यहीन एवं निष्फल ही साबित होगा। पंडित उदयशंकर भट्ट की 'रेफ्यूजी' एवं 'लुई शुई' कविताएँ ऐसी ही हैं। 'करील' और 'लाल चूनर' में 'अंचल' की अनेक कविताएँ भी इसी प्रकार की हैं जिनको पढ़ कर किसी भी भारतीय हृदय में कोई समवेदना नहीं जगती। हमें 'काडवेल, आडन, राल्फ फौक्स, एंगेल्स, फारेल, डे लीविफ और अप्टन सिनक्लेयर' के बड़े बड़े उद्धरणों की दुहाई नहीं चाहिए। इन उद्धरणों से पृष्ठ-के पृष्ठ रँगे हुए डाक्टर रामविलास शर्मा, श्री अमृतराय, श्री शिवदानसिंह चौहान एवं श्री 'अंचल' के बड़े बड़े लेख हमारे हृदय में प्रगतिवाद के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करने में असमर्थ ही रहे हैं। कारण यही है कि प्रगतिवाद का जीवन-दर्शन जब तक भारतीय रंग में रँगा हुआ न होगा, तब तक हमारे हृदय पर उसका कोई प्रभाव नहीं हो सकता। भारतीय रंग में रँगी हुई श्री 'केदार' की एक छोटी कविता तो जरा देखिए—

> वैभव की विशाल छत्रच्छाया में
> स्वर्ण सिंहासन पर
> रक्खी देव मन्दिरों में पत्थर की मूर्तियाँ
> लुब्ध हो गर्भवती
> ईश्वर से माँगती है वरदान
> केवल पाषाण ही
> कोख की मेरी भी संतान !!

इस कविता के व्यंग्य को समझकर सारे हृदय में एक बार तो उथल-पुथल मच ही जाती है। भारत की वर्त्तमान खोखली धर्म-व्यवस्था एवं अर्थ-व्यवस्था पर कैसा तीव्र व्यंग्य है। वास्तव में, प्रगतिवाद को बौद्धिक दर्शन के स्थान पर जीवन-दर्शन की आवश्यकता है और उस जीवन-दर्शन का भारतीय रंग में रँगा होना अनिवार्य है। वह देशभक्ति की लहर से ओत-प्रोत हो तो

और भी अच्छा। जो साहित्य देशभक्ति से ओतप्रोत हो वह प्रगतिवादी ही माना जायगा। किन्तु यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि यदि उस देशभक्ति का प्रभाव पाठकों के हृदय पर यह होता हो कि आर्थिक वैषम्य बना ही रहना चाहिए, सामन्त-शाही में ही भारत का प्राचीन गौरव सुरक्षित रहा है—अतः वह दुबारा फिर आ जाना चाहिए तो प्राचीन अन्धविश्वासों एवं रूढियों का नाश न होना चाहिए तो ऐसा साहित्य कभी प्रगतिवादी श्रेणी में नहीं आ सकता। श्री मोहनलालजी महतो 'वियोगी' का काव्य-ग्रन्थ 'आर्यावर्त्त' देशभक्ति से ओतप्रोत होते हुए भी प्रगतिवादी नहीं माना जा सकता। श्री वृन्दावनलालजी वर्मा का ऐतिहासिक उपन्यास 'झाँसी की रानी' देशभक्ति से ओतप्रोत होते हुए भी प्रगतिवादी नहीं कहा जा सकता। 'रामायण' और 'महाभारत' से कथावस्तु लेकर जो वैसे काव्य एवं नाटक आजकल प्रचलित हो रहे हैं, प्रगतिवादी नहीं कहे जा सकते। उनका साहित्यिक मूल्य अवश्य है, किन्तु वे प्रगतिवादी नहीं हैं। अन्याय एवं अत्याचार के विरुद्ध आवाज उठाने वाला साहित्य अवश्य ही प्रगतिवादी है, किन्तु ऐसे साहित्य का प्रभाव यदि एकता नष्ट करके वैषम्य उपस्थित करता हो तो वह भी प्रगतिवादी नहीं है। जो साहित्य 'अपनी रोटी अपनी बेटी' का राग अलापे, जो साहित्य ब्राह्मण गौरव, राजपूत गौरव की वार्त्ता चलावे, जो साहित्य हिन्दू-मजदूर संघ या मुस्लिम मजदूर-संघ की प्रतिष्ठा करना चाहे, जो साहित्य प्रान्तीयता की या विकेन्द्रीकरण की केवल संकीर्णता स्थापित करने का प्रयत्न करता हो, वह प्रगतिवादी साहित्य नहीं कहा जा सकता। स्थूल रूप से हम यह कह सकते हैं कि वह साहित्य प्रगतिवादी नहीं है, जो राष्ट्रीय होते हुए भी, आर्थिक वैषम्य का किसी-न-किसी रूप में समर्थन करता है या जो राष्ट्र के भीतर राजनीतिक, सांस्कृतिक, नैतिक अथवा सामाजिक समानता का विरोध करता है। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित है कि 'प्रगतिवाद' को प्रगतिशील बताकर

'गतिमान' अर्थ करना उचित नहीं है। इस प्रकार तो तुलसी की 'रामायण', कबीर का 'बीजक' और 'मिश्रबन्धु-विनोद' को भी प्रगतिशील साहित्य बताया जा चुका है। वेदान्तानुसार तो सभी जीवों में समानता है, तब तो वह भी प्रगतिशील साहित्य हुआ। इसीलिए 'प्रगतिशील' शब्द छोड़कर हमने 'प्रगतिवाद' शब्द ही ठीक समझा है। वास्तव में 'प्रगतिवाद' भौतिकवाद है। इसका अध्यात्म से कोई संबंध नहीं है और न प्राचीन इतिहास एवं पुराणों में ही इसका कहीं पता है। यह आधुनिक युग की वस्तु है। आर्थिक वैषम्य का नाश करके समाज का पुनर्निर्माण करना इसका मुख्य ध्येय है। वास्तव में, यह यथार्थवाद है, मानववाद है, जिसमें आकाश में उड़ चलने का स्थान ही नहीं है। प्रगतिवाद अपने देश की भूमि के हाड़-मांस के मनुष्यों से ही सम्बद्ध है। इसमें न तो वेदान्त की गुंजायश है और न फ्रायड की 'सेक्स-दमन' की कथा की। समाजवाद का साहित्य अधिकतर 'प्रचार' साहित्य होगा। 'यथार्थवाद' के लिये इतिवृत्तात्मक साहित्य की आवश्यकता होती है। इसीलिए हमारी राय में प्रगतिवाद 'द्विवेदी-युग' का अन्तिम भाग है। जिस प्रकार राष्ट्रीयता से समाजवाद पर, और फिर संघवाद या मार्क्सवाद पर, पहुँचा जाता है उसी प्रकार द्विवेदी-युग से हम प्रगतिवाद पर आ जाते हैं। वही धारा बही चली आ रही है। प्रगतिवाद में वह अपने अन्तिम लक्ष्य पर पहुँच रही है। साहित्य के इतिहास में दस-दस, बीस-बीस साल के 'युग' नहीं हुआ करते। एक-एक युग' कम से कम पचास साल का तो होना ही चाहिए। चाहे 'राष्ट्रीय' युग कहें, चाहे 'द्विवेदी'-युग—बात एक ही है। किन्तु आज तक प्रभाव इसी युग का चला आ रहा है। इसीलिए हम कहते हैं कि बहुत-से हमारे कवि एवं आलोचक न तो राष्ट्रीय युग को समझते हैं और न प्रगतिवाद को अभी तक समझ पाये हैं। 'नारी' को संबोधन करते हुए 'अचल' की निम्नलिखित अपील इसी नासमझी का परिणाम है—

रात को बनी थीं तुम गीली और रँगीली,
किन्तु दिन मे बनो अखंड युद्ध की करालिका।
दिन मे पुकारकर, ललकारकर कहो—
मुक्ति चाहती हैं हम—
धन के असम औ' अनियमित वितरण से,
मानव द्वारा मानव के नारकीय शोषण से,
दुःख, गरीबी और बढती बेकारी से,
और युगों से बँधे, सड़त, घिनावने पुरुत्वहीन प्रेम से
इन्द्रियों के विकृत, विकारमय निग्रह से
अपने अवाछनीय 'सेक्स' के दमन से।

रात के और दिन के अलग-अलग कर्त्तव्य बताकर भी न तो भाषा प्रवाहमयी बन पाई है और न रात और दिन के कर्त्तव्यों में पारस्परिक सम्बन्ध ही व्यक्त हुआ है। यह भाग गद्य मे ही लिखा गया होता तो अच्छा रहता। आर्थिक वैषम्य हटाकर आर्थिक प्रजातन्त्र स्थापित करना प्रगतिवाद का मुख्य ध्येय है, किन्तु कविता पढ लेने पर पता चलता है कि 'अंचल' एक 'सेक्स'-प्रजातंत्र की स्थापना करना चाहते हैं, जिसमे यौवनोचित आमोद प्रमोद की कोई रोक टोक नहीं हो सकेगी। 'सेक्स'-प्रजातंत्र की स्थापना मे धन का असम और अनियमित वितरण अवश्य रुकावट डालेगा, केवल इसीलिए कवि आर्थिक वैषम्य निवारण करना चाहता है। तात्पर्य यह कि 'सेक्स'-प्रजातन्त्र मुख्य और आर्थिक प्रजातन्त्र गौण उद्देश्य है। वास्तव मे 'अचल' के हृदय मे प्रगतिवाद के प्रति श्रद्धा है, इसलिए कि वह युग आ रहा है। किन्तु वासना के समुद्र को पार कर प्रगतिवाद के तट पर पहुँचना उनके लिए कठिन जान पड़ता है। 'तिय-छबि-छाया ग्राहिनी, गहै बीच ही आय'—अपनी इस कमजोरी को वह समझते भी हैं। इसलिए उन्हें कहना पड़ता है—

कर लेता प्यार तुम्हें जी-भर
हो जाता मेरा दिल सुस्थिर, हो जाता मेरा दिल पत्थर
अपने पथ पर नटता जाता
प्रत्येक कदम नव गति लाता।
निर्माल्य न मेरी पतिमा का दूषित होता प्रत्येक प्रहर।
जिस जीवन ज्वाला मे जल जल
मै हो उठता कातर चञ्चल
उसकी प्रत्येक लपट लाती मुझमे टूटता का स्रोत प्रखर
होता तब भी इतना बागी
द्रोही नवयुग का अनुरागी
पर मेरे जलते गीतों मे होती टडक की एक लहर।

और, ये जलते गीत, वास्तव मे, बुरी तरह जलते हुए दिखाई देते हैं। इनको पढ़कर प्रतीत होता है कि ये गीत केवल 'अपने-आपको बचाने के लिए व्यग्र डूबते मनुष्य के' विकृत स्वर हैं—प्रगतिवाद के सुस्थिर स्वर नहीं। तभी वह चिल्ला उठते हैं—

बोल—अरे कुछ बोल
अन्तर में हाहाकार लिये दीपक से जलनेवाले
जीवन के धूल भरे दामन से शूल उगलनेवाले
आँखों की जलधारा का क्या मोल ? तू बोल, कुछ तो बोल।
महासागर के अन्धड़ ज्वार अरे कुछ बोल !
मध्याह्न जेठ का तपता है, उड रहे बगूले बेकरार,
मैदानों मे, रेगिस्तानों मे चक्कर खाते, जी झुलसाते, लावा सा पिघलाते।
ढल रहा दिवा के साँचे मे, रौरवी नरक का यौवन औ' उन्माद
चढ आया सड़कों मैदानों को काला-बुखार—गर्दो-गुबार
निकल रहा चक्कर खाकर ज्यों धुआँ तोप के मुँह से।

यहाँ न तो भाषा ही ठीक है और न भाव ही स्पष्ट हैं। प्रगतिवाद का धुँआ कवि के मुँह से चक्कर खाता हुआ निकलता

चला आ रहा है। कवि की अधिकतर प्रगतिवादी कविता ध्वस-वाद का आधार लेकर चली है। पर प्रगतिवाद ध्वसवाद नहीं है। यहाँ आँधी-तूफान, उल्कापात, गर्जन-तर्जन और अन्धड-बवण्डर की न तो आवश्यकता है और न प्रगतिवादी साहित्य मे इनकी गुँजायश ही है। ऐसी कविताओं से कोई भी निश्चित प्रभाव पाठक के हृदय पर नहीं होता। आँधी-तूफान से एक दो वृक्ष टूट पड़ते है, थोडी देर तक कुहराम मच जाता है, किन्तु उसके अनन्तर सृष्टि फिर वैसी-की-वैसी चलती जाती है। प्रगतिवाद का आधार ठोस कार्य है, समाज का पुनर्निर्माण है, केवल क्षणिक कुहराम नहीं है। जहाँ कथा-साहित्य और उपन्यासों मे हमें सच्चे प्रगतिवाद के दर्शन होते है, वहाँ काव्य मे अभी तक ठीक ठीक प्रगतिवाद कम ही दिखाई पडा है। अधिकतर प्रगतिवादी कविता या तो ध्वंसवाद है या केवल पद्य। जैसे प्राचीन काल में वैद्यक, ज्योतिष, वेदान्त एवं दर्शन के सिद्धान्त छन्दोबद्ध करके रख दिये जाते थे वैसे ही कार्लमार्क्स या समाजवाद के सिद्धान्त आजकल हिन्दी में, प्रगतिवाद—एक अर्थ में उनका आकाक्षावाद ही—के नाम पर पद्यबद्ध किए जा रहे हैं। इसे प्रगतिवादी पद्य ही कहना उचित होगा, कविता नही। श्रीपतजी की 'युगवाणी' इस प्रकार के पद्य का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। 'अंचल' की भी कई रचनाएँ इसी प्रकार की है। यदि ये रचनाएँ गद्य मे होतीं तो अधिक सुगमता से समझ मे आ जातीं। 'अंचल' ने अपने 'समाज और साहित्य' मे पाश्चात्य प्रगतिवादी साहित्य के विशद अध्ययन का परिचय दिया है। वही 'अचल' प्रगतिवादी कविता में इस प्रकार असफल रहेंगे, यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है। प्रतीत यह होता है कि अधिक अध्ययन के कारण कवि का हृदय कवि के मस्तिष्क से बिलकुल दबा हुआ है। कविता के लिए स्वतन्त्र हृदय की आवश्यकता होती है—उसके साथ साथ अनुभूति और सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति की भी। जो कविता हृदय से

न निकली हुई होने के कारण, या अनुभूति-जन्य न होने के कारण, या सूक्ष्मतम पर्यवेक्षण-शक्ति के अभाव के कारण, पाठक या श्रोता के हृदय को द्रवित नहीं कर सकती वह पद्य है, कविता नहीं।

आज का भारतीय समाज, सामाजिक असगतियों से भरा पड़ा है। पग पग पर हमें वैषम्य दृष्टिगोचर हो रहा है। मिल-मालिक और मजदूर, किसान-जमींदार, प्रकाशक लेखक, महाजन और ऋणग्रस्त, पंडित और भङ्गी, रईस और खानाबदोश, उच्च-वर्ण और अछूत—न जाने कितने वैषम्य रास्ते चलते दिखाई पड़ते हैं। इनके लिए हमें पाश्चात्य देशों के प्रगतिवाद को देखने की आवश्यकता नहीं है। हमारे घर मे ही हिन्दू मुस्लिम भेदभाव और जाति पॉति की भीषण समस्या के साथ-साथ आर्थिक शोषण के अनेक उदाहरण मौजूद हैं। भारत के खानाबदोश और 'जरायम-पेशा' कहलानेवाले लोग संसार में अकेले ही है। किस कवि की या लेखक की दृष्टि उधर गई है? अछूतोद्धार का ढोल पिटते-पिटते आज पच्चीस साल से ऊपर हो चुके हैं। किन्तु गॉव के भङ्गी की हालत वही है जो पहले थी। परिवर्तन केवल इतना ही है कि तीन भाई—सुम्मन, झम्मन और जुम्मन—मे केवल जुम्मन पादरी साहब की कृपा से ईसाई बन जाता है, इग्लैंड और अमेरिका मे पढ़कर 'मिस्टर जेम्स' बनकर ऊँचे ओहदे पर पहुँच कर सर्व ऐश्वर्य भोग सकता है, बड़े-बड़े सनातनधर्मी पंडित उससे हाथ मिलाने को लालायित रहते हैं। किन्तु हिन्दूधर्म न छोड़ने के कारण सुम्मन और झुम्मन वहीं के वहीं अन्धकार मे पडे हुए है। उनके आगे सारे रास्ते बन्द हैं। न प्रकाश है—न आशा है। वही जूठन, वही चीथड़े, वही झाड़ू-बुहारी, गाली खाना, अलग रहना। दुनिया भर के स्तर के नीचे बरसों पडे रहना। यदि कभी कुछ सुधार हुआ तो अछूतोद्धार के नाम पर गॉव के मन्दिर का द्वार उनके लिये अवश्य खुल जायगा। यही वरदान उनके लिए पर्याप्त होगा। तात्पर्य यह कि ध्वंसवाद और कोरे सिद्धान्तों को छोड़कर प्रगतिवादी

कविता के लिए भारतवर्ष में अनेकानेक विषय ऐसे हैं जिनके आधार पर, कविता-सुन्दरी को सजाते हुए, आर्थिक वैषम्य को हटाने एवं समाज के पुनर्निर्माण के विचारों को पाठकों के हृदय में सुगमता से बैठाया जा सकता है। जो झाड़-झंखाड एवं कूड़ा-कचरा, कविता में, प्रगतिवाद के नाम पर, आ घुसा है वह अवश्य ही त्याज्य है।

कविता द्वारा भी सिद्धान्तों का प्रचार किया जा सकता है। किन्तु उनको मार्मिक ढंग से व्यक्त करने में कुशल कलाकार का हाथ होना चाहिए। देखिए, मार्क्स के इस सिद्धान्त को कि संसार में दो ही वर्ग हैं—पूंजीपति और श्रमजीवी—अपने 'जीवन के गान' में कवि 'सुमन' ने बड़ी अच्छी तरह समझाया है—

मैं ध्यान धरूँ भी तो किसका ?
जो जगती के देवता बने
जिनकी दुनिया है हरी-भरी !
अथवा जिनके जर्जर तन पर
रह गई शेष केवल ठठरी !!

जिनके पथ पर पलकों ने बिछ
सादर स्वागत् सत्कार किया !!
अथवा, जिनको दो टुकड़े दे—
कुत्ता कहकर दुत्कार दिया !!
सम्मान करूँ भी तो किसका ?
अभिमान करूँ भी तो किसका ?

पढ़ते ही भाव हृदय में समा जाते हैं। ऐसे ही, दलितवर्ग की दशा का कुछ-कुछ आभास हमें 'अंचल' की 'करील' कविता में मिलता है। करील वनदेवी से कहता है—

वन-वन में माँ ! फूट रहा मधुमद का नव निर्झर उन्मेष
गूँथ रहीं सब कलियाँ अपने पवन-प्रदोलित केशर-केश
बकुल, गुलाब, अगुरु, रसभीनी, जुही-चमेली, मृदु मन्दार
सुरभित, मुकुलित, फलित, उच्छ्वसित प्राणों से मुखरित कान्तार
कहाँ उधर वह दीपालोकित झल्लरियों का स्वर्ण सदन !!
औ' दुर्बल, जड़ता, अस्थिरता, दुखमय यह मलीन जीवन !!!
तुम कैसे मेरी जननी जब मैं भी एक तुम्हारा बाल ?
जब मनकी कञ्चनमी काया, क्यों सूखा मेरा कंकाल ?

यहाँ दलित-वर्ग का थोड़ा-सा ही आभास मिलता है। अवश्य यह कविता साम्यवाद के विरोधियों के लिए आपत्तिजनक है। उनको यह कहने का अवसर मिलता है कि जब प्रकृति में ही वैषम्य है तो संसार में आर्थिक वैषम्य क्यों नहीं रहेगा ? इस कविता का साहित्यिक मूल्य अवश्य है, किन्तु 'अंचल' के पक्के प्रगतिवादी होने में अवश्य यह सन्देह उत्पन्न कर देती है। उस सन्देह का निवारण करने के लिए 'किसान' शीर्षक रचना पर्याप्त होगी। किन्तु उसमें भी कवि के अनुभव की कमी प्रतीत होती है उसके एक स्थान पर लिखा है—

"जब लोट लोट-सी पड़ती हैं ये गेहूँ धानों की बालें
है याद इन्हें आती, मानों जब खिंचती थीं तेरी खालें !!"

यहाँ 'किसान' के प्रति सहानुभूति तो अवश्य दिखाई पड़ती है, किन्तु कविता में सूक्ष्म पर्यवेक्षण-शक्ति का अभाव भी प्रतीत होता है। इन पंक्तियों को पढ़कर यह मालूम होता है कि कविवर गेहूँ-धान की बालों के बीच में खड़े होकर किसान को उसकी खाल खिंचने के दृश्य की याद दिला रहे हैं। अब गेहूँ और धान की बालें एक साथ तो नहीं होतीं। धान आषाढ़ में बोया जाता है और कातिक-अगहन में तैयार होता है, यह खरीफ की फसल है। गेहूँ दश

हरे के लगभग बोया जाता है और होली के करीब काटा जाता है, वह रबी की फसल है। प्रगतिवादी कवियो को किसानो की वकालत करने के पहले उनसे भली भाति परिचित ता होना चाहिए। प्रगतिवाद वास्तविकता पर आधारित है। कुछ भी कहकर आकाश मे उडने की वहाँ गुंजायश ही कहाँ? आजकल अधिकतर प्रगतिवादी साहित्य ऐसी ही अनुभव की कमी के कारण शुष्क एवं नीरस-सा बन गया है॥ कहीं-कहीं बीभत्स, कुत्सित एव घृणित दृश्य भी जान-बूझकर लादे जाते है, जो न तो साहित्य की दृष्टि से समाजवाद के लिए हितकर बताये जा सकते ह और न प्रचार की दृष्टि से। 'कराल' मे एक 'चलचित्र' ऐसा ही है। एक कुली शराब पिये हुए आता है और अपनी गर्भवती स्त्री पर बलात्कार करता है। कवि लिखता है—

मैं मौन पड़ा छत के ऊपर।
फिर सुनता रहा बराबर मैकू की वाणी की रौरवता।
जीवन के गन्दे स्रोतों की दुर्गन्धि भरी उच्छृङ्खलता।
× × × ×
इस रौद्र-रॉद मे टूट गई बेहोशी, वह यों चिल्लाई
जैसे यन्त्रणा ग्रसित पागल कुत्ते की मौत निकट आई

ऐसे दृश्यों का वर्णन करके साम्यवाद का प्रचार किसी प्रकार भी न तो किया जा सकता है और न इस तरह नर-नारी की समानता का ढोल ही पीटा जा सकता है। शराबी तो नशे मे कुछ भी कर सकता है। केवल उस दृश्य को दिखाकर नारी को 'शोषित' कैसे सिद्ध किया जा सकता है? ऐसे घृणित एव अश्लील दृश्य दिखाने से तो प्रगतिवादी काव्य से रही-सही श्रद्धा भी चली जायगी।

शिवमंगलसिंह 'सुमन' का 'प्रलय सृजन'

'हिल्लोल' के बाद प्रोफेसर शिवमंगलसिंह 'सुमन', एम० ए० की कविताओं का दूसरा संग्रह 'प्रलय सृजन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। जनवरी सन् १६४६ के 'विश्ववाणी' में श्री कमल कुलश्रेष्ठ द्वारा इस संग्रह की समीक्षा करते हुए लिखा गया है कि 'यह कविताएँ घिसे-पिटे विचारों को लेकर लिखी गई हैं, सच्ची अनुभूति की कमी है, जीवन में साधना की कमी है। रटे रटाए कम्यूनिस्ट नारों को छोड़कर यदि कवि कभी ऊपर उठ सका, तो शायद कुछ अच्छा लिख सकेगा।"

जिसने 'प्रलय सृजन' पढ़ा है समीक्षा पढ़कर उसके हृदय को ठेस पहुँचती है। और वह ठेस और भी बढ़ जाती है जब हम समीक्षा में यह पढ़ते हैं कि समीक्षक की राय में भाषा एवं भाव की दृष्टि से 'मास्को' सम्बन्धी कविता सबसे अच्छी है। कम्यूनिस्ट विचारों की कसौटी पर अवश्य 'मास्को अब भी दूर है' वाली रचना सबसे अच्छी ठहर सकती है किन्तु प्रोपेगेन्डा की दृष्टि से, एक रचना अच्छी होती हुई भी काव्य की दृष्टि से वही रचना दूषित भी हो सकती है।

"दस हफ्ते दस साल बन गए
मास्को अब भी दूर है"

यह रचना कहीं कहीं ओजस्वी होती हुई भी काव्य की दृष्टि से श्रेष्ठ नहीं कही जा सकती। यदि समीक्षक महोदय कोई दूसरा छन्द अपने समर्थन में उपस्थित करते तो दूसरी बात होती। परन्तु यह देखकर हमें अत्यंत आश्चर्य हुआ कि 'विश्ववाणी' में भाषा दोष से दूषित प्रथम छंद ही उद्धृत करके 'प्रलय सृजन' की प्रशंसा की गई है।

शब्द साम्य का अभाव

यह लिखते हुए हमे अत्यत संकोच होता है कि 'असमझवार सराहिबो, समझवार को मौन' कवि-हृदय मे सदा ही खटका करते हैं। इसलिए एक सरसरी दृष्टि से इस छन्द को देखना ही उचित होगा। यह छन्द निम्नलिखित है—

घनन घनन घन बादल गरजे
घहर घहर घन तोपें
ज्वालामुखी सजीव टैंक बन
जब धरती पर कोपें
हिली धरा, हिल गया आस्माँ
हिला विश्व का कोना
अन्तरिक्ष से प्रतिध्वनि आई
ऐसा हुआ न होना।

छन्द का अर्थ तो स्पष्ट ही है किन्तु ध्यान देने योग्य बात यह है कि बादल 'घनन घनन घन' नहीं गरजा करते। 'घनन घनन घन' तो घंटे बजा करते है। शायद कवि को तुलसीदासजी के 'घन घमंड नभ गरजत घोरा' की याद आ गई। परन्तु नाद-शक्ति एवं शब्द-शक्ति तुलसी के छन्दों में अद्वितीय रही है। वहाँ शब्द भी दूसरे हैं। 'घनन घनन घन' नहीं है। 'घन घमड' और 'घोरा' मे बादलों के 'घहर घहर' घहराते 'रव' का अवश्य साम्य है। तोपों से भी "घहर घहर घर" की आवाज नहीं आती, 'धड़ाम' 'धडाम' की ही आती है।

तोपों के स्थान में यदि बादलों के लिए 'घहर' 'घहर' प्रयोग किया जाता तो अधिक उपयुक्त होता।

श्री सियारामशरणजी ने 'बापू' मे एक स्थान पर लिखा है—

हो उठी पयोद घटा गहरी
एक साथ बिज्जु छटा छहरी
वायु बही सरसर
काँप उठे वन्यवृक्ष थरथर
सहसा अकाल वृष्टि घनघन घहरी

यहाँ 'घन घन घहरी' में अवश्य बादलों के गंभीर प्रतिध्वनि का आभास प्रतीत होता है। और सहसा महाकवि 'देव' की निम्नलिखित पक्तियों की भी याद आ जाती है—

झहर झहर झीनी
बूंद है परति मानों
घहरि घहरि घटा
घेरी है गगन मे

हम नहीं कह सकते कि 'मास्को अब भी दूर है' कविता में श्री 'सुमन' ने तोपों के साथ बादलों के गरजने का वर्णन क्यों उचित समझा। शायद रूस को भी भारतवर्ष समझा हो जहाँ २२ जून को बादल गरजने लगते है। जो कुछ भी हो, यदि बादलों की गरज बतलाना ही अभीष्ट था तो उपयुक्त शब्द-साम्य आवश्यक था जो यहाँ नहीं आ पाया।

शब्द साम्य एवं नाद शक्ति की कमी से, 'मास्को अब भी दूर है' का प्रथम छन्द उपहासास्पद हो गया है। वास्तव में यह छंद पढ़ते ही पाठक के हृदय से सहसा निम्नलिखित पंक्तियाँ निकल पड़ती हैं—

घहर घहर घन तोपें बाजीं
घनन घनन घन बादर !!
'प्रलय सृजन" में दिखलाते कवि
नाद - शक्ति को सादर !!

हिल शब्द, हिल गया अर्थ सब
प्रथम छन्द का टोना
देख देख कर कहें समीक्षक
ऐसा हुआ न होना ।।

जहाँ प्रथम छंद में ही एक बड़ा दोष हो वहाँ रचना की प्रशंसा ही कैसे की जा सकती है ? फिर भी, इसका यह तात्पर्य नहीं कि 'प्रलय सृजन' में कवि की प्रतिभा अविकसित ही रही। 'प्रलय सृजन' में 'कंकड़ पत्थर' रचना नितान्त मौलिक है। भाषा प्रवाह भी अच्छा है। प्रगतिवादी रचनाओं में 'कंकड़ पत्थर' का स्थान बहुत ही ऊँचा है।

मार्ग में पड़े हुए 'कंकड़ पत्थर' न जाने कितने सदा ही मिला करते हैं। न जाने कितनों के हम लोग रोज ही ठोकर लगाते होंगे। परन्तु कितनों ने सोचा होगा कि इन गरीब बेचारों के भी जीवन है ? इनके भी आत्मा है, इनके भी हृदय है जो दुःख और दर्द, आह और कराह, टीस और वेदना से भरा हुआ है। 'सुमन' द्वारा, उनकी आत्मकथा पर, बरबस पाठक का ध्यान खिंच जाता है। कहते हैं -

जाने किस शिल्पी की टाँकी से
टकरा कर मैं चूर हुआ
अपने विशाल गिरि गृह कुटुम्ब से
छिन्न भिन्न हो दूर हुआ ।।
आ पहुँचा मानव बस्ती में,
चिर परिचय - हीन प्रवासी सा
पग पग पर ठोकर पर ठोकर
खाने को मैं मजबूर हुआ ।।
तुम पूछ रहे मेरा परिचय

तुम पूछ रहे मेरा निश्चय
मैं क्या जानूँ इस जगती म
प्रभिशाप रूप हूँ या वर हूँ ॥
मै पथ का कङ्कड पत्थर हूँ ॥

× × ×

आँखों के रहने भी अन्धे
आकर मुझसे टकरा जाते
गर्वित निज बल की क्षमता से
दो लात और जमा जाते
मै लुढक पुढक टकटकी बाँध
परखा करता उनकी कीमत
जग को मुझ ऐसे दीन हीन
फूटी आँखों भी कब भाते
वे नहीं जानते मेरे भी
दिन थे, मै था चैतन्य कभी
चेतनता के उपहास - रूप
अब भावी जड़ता का स्वर हूँ
मै पथ का कङ्कड पत्थर हूँ।

× × ×

मै पद लुंठित, पद मर्दित बन,
आया हूँ जीवन के पथ पर
परवश अपनी सीमाओं मे
मै मूक व्यथाओं का घर हूँ
मै पथ का कङ्कड पत्थर हूँ

× × ×

मैं कहूँ कहाँ तक सुनने को
गाथा कोई तैयार नहीं

म इस शोषण की जगती मे
जर्जर समाज का नत शिर हूँ
मै पथ का कंकड़ पत्थर हूँ ।।

परन्तु वर्तमान मनुष्य समाज मे, पूँजीपति साम्राज्य मे, विशेष कर भारत के अभागे हिन्दू समाज मे, ऐसे भी दलित मानव हैं जिनका जीवन इन टूटे-फूटे कंकड़ पत्थर से भी हेय एव निन्दनीय हैं। उनको देखकर मार्ग में पडे हुए कंकड पत्थर को थोड़ी सी तसल्ली तो हो जाती है। इसी की ओर इगित करते हुए आगे कवि लिखते हैं—

पर मैने कल पथ पर देखी
पद - दलित मानवों की टोली
थीं जिनकी आह कराहों मे
मेरी परवशता की बोली
उनकी भी हाहाकारों पर
देता था कोई ध्यान नहीं
अपने सूखे जर्जर तन में
लगते थे मेरे हमजोली
जीवन मे पहले पहल मुझे
अपने पर कुछ गर्व हुआ
मै जड़ होकर भी इन चेतन
नर - कंकालों से बढ कर हूँ
मै पथ का कंकड़ पत्थर हूँ ।।

वास्तव में, प्रगतिशील साहित्य में यह रचना और इसकी ऊँची कल्पना अद्वितीय है।

'लाल सेना' मे भी कवि ने बड़ा अच्छा भाषा प्रवाह दिखाया है। कवि ने यह सेना देखी तो कहाँ होगी, परन्तु कवि के हृदय

के उद्गार 'मार्चिंग' गीत की सुन्दर लहरी एवं पद-विन्यास के साथ बड़े सुन्दर रूप में बाहर निकल पड़े हैं। भाषा-सौष्ठव देखने योग्य है, लिखते हैं—

युगों की सभी
    रूढ़ियों को कुचलती
जहर की लहर सी
    लहरती मचलती
अँधेरी निशा मे
    मशालों सी जलती
चली जा रही है
    बढ़ी लाल सेना

+ + +

कुहू की निशा मे
    उदित पूर्णिमा सी
जिधर डग, उधर
    फट गई कालिमा सी
क्षितिज पै उषा को
    तरुण लालिमा सी
चली जा रही है
    बढ़ी लाल सेना

+ + +

चरण चिह्न मे
    छोड़ती युग निशानी
नया दिन, नया वेष,
    नूतन कहानी
चले झूमते ज्यों
    उमड़ती जवानी

चली जा रही है
बढ़ी लाल सेना,

\+ \+ \+

लग गूँजने
शोषितों के तराने
'चले आज हम
स्वप्न सच्चे बनाने'
रुकेगी ? रुकेगी ?
कहाँ कौन जाने
चली जा रही है
बढ़ी लाल सेना ॥

"स्वर्गीय 'पढीस' जी की स्मृति में" भी कविता अच्छी है। पढ़कर कवि की सुगठित भाषा, रचना-कौशल एवं सहृदयता का अच्छा दिग्दर्शन होता है। एक दो उदाहरण अनुचित न होंगे। कवि लिखते हैं—

तुम जन मन के कंठ भूमि सुत,
प्रार्थी तरल गरल के
साथ साथ जिनकी जिह्वा में
अमिय हलाहल छलके
अनजाने, अनगाए, अनहोनी
की अकथ कथा म
हिमगिरि से गल बहे, तपे तुम
दिनकर से जल जल के
मूक रुद्ध वाणी युग युग की
मुखर हो उठी तुम में
चकित देखने लगे ठगे कवि
वाणी के विभ्रम में

सध्या के भूले पथिकों की
जीवन ज्योति जगाए
तुम चुपके से धूमिल नभ के
कोने मे उठ आये
चमके, पर, जग की आँखों की
चकाचौंध उल्का से
गिरे टूट तब कहीं नेत्र जग
के ऊपर उठ आए !,

यह कहना कि, 'प्रलय सृजन', केवल साधारण रचनाओं का संग्रह है, कवि के प्रति सर्वथा अन्याय है। वास्तव में,

"इस जीर्ण जगत के पतझर मे
अभिशप्त तुम्हारा कवि जीवन"

आदि रचनाओं में भी मौलिकता का आभास मिलता है। यह रचना कवि के उच्च भविष्य का विश्वास दिलाती है।

पुनर्वाचन

आधुनिक हिन्दी कवियों की भाषा दुर्बोध, कृत्रिम, और क्लिष्ट बन गई है। भाषा के प्रवाह का ध्यान कवियों को नहीं रहता, क्लिष्ट संस्कृत के साथ-साथ लचर, और साधारण बोल-चाल के ग्राम्य-शब्द यकायक आकर, प्रवाह को बिगाड़ देते हैं। कविजन शब्दों के स्वामी नहीं जान पड़ते। भाषा के विषय में सतर्कता, और सावधानी का अभाव, कविजनों की "अभ्यास-शून्यता" और दोहराने की कमी बतलाता है।

एक-दो उदाहरण यहाँ देना अनुचित न होगा।

"मंगल घट" में "शब्द के प्रति" एक बड़ी सुन्दर कविता है, लेकिन अन्त मे आकर उसका प्रवाह एक दम रुक जाता है। श्रद्धेय गुप्तजी की वह कविता यह है:—

> "सागर भरा तुम्हारे घट में
> विश्रुत तुम बहु वृत्त विधान।
> भरे रहें भंडार तुम्हारे।
> अहो शब्द! ओ अर्थ निधान!
> जननी सरस्वती के छौने!
> मधुर सलौने शुचि सोत्साह;
> तुम्हीं खिलौने मुग्धामति के
> तुम्हीं ज्ञान के पुतले वाह!

"शब्द" को "सरस्वती" का "छौना" और "मुग्धा-मति का खिलौना" बतलाना अजीब ही प्रयोग है। साथ-साथ ज्ञान के "पुतले वाह!" ने दर असल भाषा की गति एकाएक रोक ली है।

ऐसा प्रतीत होता है कि बहाव आगे न जाकर सतह के नीचे ही धसकने लगा हो।

एक दूसरा पद्य "पुष्पांजलि" पर "मंगल-घट" बड़ा अच्छा है। किन्तु अन्त में यह भी बुरी तरह बिगड़ गया है।" देखिए।

"मेरे आँगन का एक फूल!
सौभाग्य भाव से मिला हुआ
श्वासोच्छ्वासों से हिला हुआ
संसार विटप में खिला हुआ!!

× × ×

वह रूप कहाँ, वह रंग कहाँ?
हिलने डुलने का ढंग कहाँ?
हो गया अरे रस भंग यहाँ!
उड़ गई गंध भी हाय धूल!!
मेरे आँगन का एक फूल!!

× × ×

करता समीर था साय साय
भूतल लगता था भाँय भाँय
बकता था मैं भी आँय बाँय
दिखलाई देता था न कूल
मेरे आँगन का एक फूल।"

यहाँ अन्त में सारी कविता ही "आँय-बाँय" बकती मालूम होती है। भाव अच्छा था मगर आँय-बाँय जो ठहरी—शब्द उल्टे चलते गये।

'हिम-किरीटिनी' का एक पद्य है:—

"ये न मग हैं, तव चरण की रेखियाँ हैं
बलि दिशा की अमर देखा देखियाँ हैं
विश्व पर, पद से लिखे कृति लेख हैं ये
धरा तीर्थों की दिशा की मेख हैं ये।"

इनमें "रेखियाँ" और "देखा-देखियाँ" ने "पागल-जवानी" का मजा ही बिगाड़ दिया है।

हिन्दी प्रवेशिका पद्यावली मेट्रीक्युलेशन के कोर्स में पाठ्य पुस्तक है। 'निराला' जी के अच्छे अच्छे पद्य छोड़कर, केवल एक "जलद" उसमे रखा गया है। लेकिन उसके दो पद्यों को, एक-दूसरे के सम्मुख रख कर पढ़िये, तो उनकी भाषा की लड़खड़ाहट का आपको स्वयं अनुभव हो जायगा। वह पद्य यह है—

(१)

"जलद नहीं, जीवनद, जिलाया
जब कि जगज्जीवन्मृत को
तपन—ताप—संतप्त तृषातुर
तरुण—तमाल—तलाश्रित को

(२)

वहाँ होशियारों ने तुमको
खूब पढ़ाया, बहकाया।
'द' जोड़ ग्रेड बढ़ाया, तुम पर
जाल फूट का फैलाया।"

'जल' मे 'द' जोड़कर ग्रेड बढ़ाया !! कितना सुन्दर भाव है! कहाँ ऊपर के पद्य का संस्कृत भाषा का वातावरण, और कहाँ बाद में खिचड़ी भाषा का यकायक दखल !!

यह "जलद" मेट्रीक्युलेशन की परीक्षा मे आदर्श-काव्य नाते रखा गया है। विद्यार्थियों पर भाषा की नवीन शैली का कितना अच्छा प्रभाव पडेगा !!

श्रीयुक्त 'प्रसाद'जी ने 'अलम्बुषा', महादेवीजी ने 'स्वर्ण लूता निराला ने 'अराल', पन्तजी ने 'मृत्सना', और गुप्तजी ने 'कार्पण्य' शब्दों के स्थान स्थान पर चिन्त्य प्रयोग किये हैं, और "एक तारा" मे तो "ग्राम-प्रान्त" का ही 'ग्राम के क्षेत्र' के अर्थ मे प्रयुक्त कर दिया है। क्या वर्तमान-काल मे 'ग्राम' के अनन्तर 'प्रान्त' शब्द से 'क्षेत्र' का अर्थ लेना समीचीन हो सकता है ? पन्तजी ने लिखा है —

"नीरव सध्या मे प्रशान्त,
डूबा है सारा ग्राम-प्रान्त"

पन्तजी लिखते समय भूल गये कि, वर्तमान "ग्राम" और वर्तमान "प्रान्त" के बीच मे मुहाल, तेहसील, सब-डिव्हीजन, जिले और डिव्हीजन उपस्थित हो चुके हैं। अगर सभी को डुबाना स्वीकार था तो यह लिखना बेहतर होता कि —

"नीरव सध्या मे प्रशान्त
डूबा सारा सयुक्त प्रान्त।"

मेरा विचार है कि यदि हमारे कविगण, शब्दों की ओर थोड़ा भी ध्यान देते, और अपनी कविताओं को दोहराने का प्रयत्न करते तो भाषा की जो दुर्गति हो रही है, वह कुछ हद तक तो रुक ही जाती।

हमारे कवियों मे प्रतिभा की कमी नहीं है, जो कुछ कमी है वह अभ्यास की है। थोडे से अभ्यास में यह कमी पूरी हो सकती है। इस अभ्यास के सम्बन्ध में 'इसलाह' और 'पुनर्वाचन' पर दो शब्द लिखना अनुपयुक्त न होगा।

इसलाह और पुनर्वाचन

उर्दू शायरी मे 'इसलाह' का अब भी फायदा उठाया जाता है। एक उस्ताद के कई शागिर्द शायर होते है। जब-जब अपनी शायरी शागिर्द उस्ताद के सामने लाते ह, तब-तब उस्ताद सलाह दिया करते है। यानी एक एक लफ्ज पर नुक्ता-चीनी होती है। गुण-दोष विवेचन हुआ करता है। और कुछ शब्दों को बदल कर, लिखने की सलाह दी जाती है। साधारणत देखा गया ह कि इसलाह के बाद शायरी मे एक नई ताजगी, एक जादू आ जाता है। दो एक मिसाल देना नामुनासिब न होगा।

आली साहब का एक शेर है -

"हजरते ईसा अगर मिलते तो उनसे पूछते,
"दर्द कहते है जिसे उसकी दवा क्या चीज है।

जब उस्ताद जलील साहब के पास यह शायरी पहुँची तो दूसरी लाइन उनको ठीक न जँची। 'जिसे" और "उसकी" ये दो शब्द इसमे व्यर्थ भरे थे। इसलाह के बाद शेर मे एक नई जान आ गई। बदला हुआ शेर यह है—

"हजरते ईसा अगर मिलते तो उनसे पूछते,
इस जहाँ मे दर्दे उल्फत की दवा क्या चीज है ?"

एक दूसरा शेर है —

"कुछ न कुछ खामी भी रह जाती है, हर इन्सान मे।
बात फिर असली कहाँ से आ सके तस्वीर मे।"

इसलाह के बाद इस शेर में बिलकुल नई बात आ जाती है। बदला हुआ शेर यह है —

"इक न इक खामी का रह जाना यकीनी बात है,
शायबा तक असल का मुमकिन नहीं तस्वीर मे।"

दोनों में कितना ज्यादा फर्क हो जाता है ?

मेरे विचार से यह दिखाने के लिये उक्त दो मिसालें ही काफी होंगीं कि उर्दू के शायर, अपनी भाषा को अच्छा बनाने के लिये कितनी कोशिश करते हैं। यद्यपि हिन्दी में 'गुरूडम' बहुत पहिले से उठ चुका है तथापि काव्यगत-उच्छृंखलता पर 'इसलाह' की तरह कोई रोक जारी होनी चाहिये। एक तरफ तो काव्य-गत-उच्छृङ्खलता मची हुई है और दूसरी तरफ अच्छी-अच्छी प्रतिभाएँ प्रोत्साहन के अभाव मे, अकाल ही मे सूख जाती हैं और अविकसित ही रह जाती हैं।

स्थान-स्थान पर कुछ संस्थाएँ कायम होनी चाहिये जिनके पास रचनाएँ वाद-विवाद या नुक्ता-चीनी के लिये भेजी जा सकें। नुक्ता चीनी के बाद कवि-गण अपनी रचना देखें और बाद मे प्रकाशित करवाया करें। 'इसलाह' की प्रथा से उर्दू-शायरी बहुत ऊँचे दर्जे पर पहुँच चुकी है और हिन्दी कविता के लिये कुछ-न-कुछ प्रयत्न इसी ढंग पर करना चाहिये।

कविगण यदि अपनी कविताओ का पुनर्वाचन भी अच्छी तरह कर लिया करें तो भी साहित्य उन्नत होने लगेगा।

पुनर्वाचन (Revision) का अभ्यास, संसार के बडे-बडे साहित्यिकों ने किया है। हम लोगों के लिये नई बात न होनी चाहिये।

अँग्रेजी साहित्य में टेनीसन कवि के बारे मे कहा जाता है कि Lotus Eaters के प्रारम्भिक शब्द उन्होंने इस तरह लिखे हैं —

" 'Courage' ! he said and pointed
To wards the land,
This mountain wave will roll us
shoreward soon,

In the afternoon they came unto a land
In which it seemed always afternoon ”

जब यह कविता एक मित्र को दिखलाई गई तो उस मित्र ने टैनीसेन से कहा कि, Land और Land का तुक (Rhyme) ठीक नहीं जँचता कोई दूसरा शब्द क्यों नहीं रख देते ? टैनीसन ने जबाब दिया कि "मैंने भी इसी बात को कई बार सोचा था। जो शब्द मैंने रखने का प्रयत्न किया था वह शब्द Strand था, मगर सारे पद्य का वातावरण सुस्ती से भरा हुआ था, जो सुस्ती Strand में नहीं हो सकती थी। इसीलिए वही लफ्ज Land रख दिया क्योंकि वह अधिक सुस्त शब्द था। Strand बोलने में जीभ को जल्दी से मरोड कर पलटना पड़ता जिससे सुस्ती का भाव लोप हो जाता।

वास्तव में वही शब्द दुबारा रख देने से यह प्रतीत होता है कि कवि स्वयं इतना थक चुका था कि तुक के लिए दूसरा शब्द खोज ही नहीं सकता। पद्य में जो थकान भरा वातावरण शुरू में बतलाया गया है, सुस्ती से वही शब्द दुहरा देना उसी वातावरण के अनुकूल बन जाता है। इसीलिए दो बार afternoon शब्द का भी प्रयोग किया गया है।

विश्व-साहित्य में, पुनर्वाचन के ऐसे अनेक उदाहरण भरे पडे है। अपनी कृति को बार-बार दोहराने से—एक-एक शब्द पर भली प्रकार विचार करने से,—उसके वे गुण दोष दृष्टि के सम्मुख आ जाते हैं जो प्रारम्भिक अवस्था मे छिपे रहते हैं।

आशा यह की जाती है कि हिन्दी के नवीन कवि अपनी कृतियों को बार-बार दुहरा कर भाषा को परिमार्जित करने में अधिकाधिक प्रयत्न करेंगे।

साहित्य-समीक्षा*

संस्कृत ही मूल आधार है

सबसे पहिली बात जिस पर मैं जोर देना चाहता हूँ यह है कि संस्कृत-भाषा ही हमारी मूल आधार है। कोई वृक्ष कितना ही विस्तार के साथ बढ़ता ही चला जाय, कितनी ही उसमें शाखायें, प्रति शाखायें, होती चली जायें मगर वह अपनी जड़ों को भूल नहीं सकता क्योंकि उन्हीं से उसे जीवन-रस मिला करता है। नदी भी कितनी ही बढ़ती चली जाय, अपने उद्गम स्थान को भूल नहीं सकती। भाषा की भी यही स्थिति है।

आर्य संस्कृति का केन्द्र आज भी संस्कृत भाषा में विद्यमान है। उसी भाषा में भारत का सर्वस्व समाया हुआ है। हिन्दी, बंगला, गुजराती, मराठी इत्यादि भाषाओं का उद्गम स्थान (Source) संस्कृत-भाषा ही है।

यह दुःख की बात है कि आज हिन्दी भाषा-भाषी विद्वान् संस्कृत-भाषा को उपेक्षा की दृष्टि से देख रहे हैं।

इङ्गलैण्ड में मेट्रीक्युलेशन और समान परीक्षाओं में लेटिन (Latin) और ग्रीक (Greek) अनिवार्य विषय रखे गए हैं। भारत के विश्व-विद्यालयों में पहिले क्लासिक (Classic) का अभ्यास अनिवार्य रखा गया था। परन्तु यह देखकर दुःख होता है कि आज हिन्दी-साहित्य सम्मेलन ने अपनी हिन्दी-साहित्य की परीक्षाओं में संस्कृत का साधारण ज्ञान भी अनिवार्य रखना उचित नहीं समझा। परिणाम यह हुआ कि कई "साहित्य-रत्न",

* मध्य भारतीय हि० सा० सम्मेलन, इन्दौर में साहित्य-परिषद के अध्यक्ष-पद से दिया गया लेखक का भाषण।

"विशारद" -उपाधिधारी, और एम ए. हिन्दी में पास किए सज्जन, संस्कृत के साधारण ज्ञान से भी अनभिज्ञ हैं। संस्कृत ज्ञान के अभाव में हिन्दी ज्ञान पूरा कैसे हो सकता है? यही कारण है कि आज नवीन शैली के नवयुवक विद्वान भाषा की दुर्गति का एक कारण बन रहे हैं। बाबू राजेन्द्रप्रसादजी सरीखे हिन्दुस्तानी के हिमायती विद्वान् ने भी संस्कृत का अध्ययन आवश्यक माना है। हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन को संस्कृत का साधारण ज्ञान अपनी परीक्षाओं में अनिवार्य कर देना चाहिये। क्योंकि जहाँ जड़ें मजबूत नहीं वहाँ भाषा का वृक्ष पनप ही कैसे सकता है?

काव्य-साहित्य

प्राचीनकाल में साहित्य शब्द था ही नहीं। यह शब्द तो आधुनिक-युग की उपज है। संसार की सब भाषाओं में प्रारंभिक रचनाएँ पद्य में ही मिलती हैं। 'काव्य' शब्द में ही 'साहित्य' निहित था। पंडित पी वी काणे महोदय ने अँग्रेजी में 'साहित्य-दर्पण' की भूमिका में बिल्हण, मुकुल, प्रतीहारेन्दुराज, मङ्खक, और राजशेखर की कृतियों से उदाहरण देकर यह अनुमान किया है कि 'साहित्य' शब्द सन् ६०० ईस्वी के पूर्व आ चुका था। भामह ने जब काव्य की परिभाषा "शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्" स्थिर की तब 'सहितौ' शब्द से 'साहित्य' शब्द की उत्पत्ति हुई और साधारणतः काव्यालोचना के अर्थ में ही 'साहित्य' शब्द प्रयुक्त होता रहा। केवल विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ का नाम 'साहित्य दर्पण' रखकर, 'साहित्य शब्द को प्रमुख स्थान दिया है। विश्वनाथ के समय का निर्णय विद्वानों ने विक्रम संवत् १३५६ से १४४० के आस-पास किया है। पहिले पहिले साहित्य शब्द एक विशेषता के साथ विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' से प्रारम्भ हुआ प्रतीत होता है। परन्तु पूरे साहित्य-दर्पण में (इतने बड़े ग्रन्थ में) विश्वनाथ ने भी कहीं भी साहित्य का अर्थ नहीं बतलाया। उसका विषय काव्य-चर्चा और काव्य मीमांसा ही है।

विश्वनाथ के पूर्व व पश्चात् के विद्वान् काव्य-मर्मज्ञ-भरत, भामह, कुन्तक, दन्डी, वामन, रुद्रट, राजशेखर, भट्टतोत, मम्मट, हेमचन्द्र आदि के नाट्य-शास्त्र, काव्यालकार, काव्यादर्श, काव्य-मीमासा, काव्य कौतुक, काव्य प्रकाश, काव्यानुशासन आदि ग्रन्थों में सर्वत्र-काव्य-मीमांसा, या तदन्तर्गत रसमीमासा, अलंकार निरूपण, अथवा ध्वनि विचार की ही प्रधानता है। 'साहित्य' शब्द को, जिस आधुनिक अभिधा से हिन्दी मे प्रयुक्त किया जाता है, वह शब्द शायद भारत मे अँग्रेजी शासनकाल के बाद, बंगला से हमारे यहाँ आया। फारसी म इस शब्द को 'अदब', और मराठी मे इसका पर्याय वाचक-शब्द 'वाङ्मय' है। पडित महावीर-प्रसाद द्विवेदी द्वारा पारिभाषित "समस्त लिखित अक्षर ज्ञान भंडार को साहित्य कहते हैं" साहित्य का यह अर्थ विश्वनाथ के भी ध्यान मे न आया होगा। बात असल मे यह है कि प्राचीनकाल मे सब कुछ वैद्यक, ज्योतिष, गणित से लगाकर ऊँचे से ऊँचे दर्शन आदि विषय पद्य मे, अनुष्टुप, मे या कारिकाओं के रूप में लिखे जाते थे। इसलिए प्राचीन काव्य मीमांसाकार 'काव्य' शब्द से ही अक्षर बद्ध ज्ञान भडार का अर्थ समझा करते थे। यह बात भारत अकेले में ही हो, ऐसी बात नही है। ऐरिस्टाटल ने भी "पोएटिक्स" (Poetics) मे ही साहित्य-समालोचना के विषय मे लिखा है, और होरेस (Horace) ने जिस पुस्तक मे साहित्य समालोचना के सिद्धान्त समझाये हैं, उस पुस्तक का ही नाम Ars Poetica रखा था। पोप ने शैली का विवेचन 'An essay on criticism' मे किया है और मुख्य बात यह है कि वह भी काव्य मे ही है।

तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ से ही काव्य और साहित्य मे कोई भेद नहीं रखा गया और काव्य की आलोचना मे साहित्य की आलोचना निहित थी।

हमारे काव्य-ग्रन्थों मे काव्य के दो प्रकार के प्रयोजन माने गये थे।

१. स्वान्तः सुखाय प्रयोजन।

(अर्थात् क्रीड़ा, विनोद, आनन्द, प्रीति)

२ लोक-पक्ष के प्रयोजन।

(अर्थात् यश-प्राप्ति, अर्थ-प्राप्ति, शिव की रक्षा, और कान्ता संमित उपदेश।)

आत्मलक्षी-प्रयोजनों के कारण कवि से अपेक्षा की जाती थी कि उसमें प्रतिभा, व्युत्पत्ति, या बहुश्रुतता और अभ्यास हो। अनुभूति के साथ-साथ अभिव्यक्ति की स्पष्टता और प्रभविष्णुता पर सभी प्राचीन आचार्यों ने जोर दिया था और इसी कारण से प्रतिभा (Inspiration) एक तिहाई होने पर भी व्युत्पत्ति और अभ्यास (perspiration) को दो-तिहाई महत्व दिया गया था। केवल प्रेरणा से काव्य मे काम नहीं चला करता। उस प्रेरणा को व्यक्त करने के लिये जिसे क्रोचे (Benadetto Croce) ने Intuitive moment नाम दिया है। कवि के पास पर्याप्त उपयुक्त साधन होने चाहिये। उसे अपने माध्यम शब्द और स्वरों पर पूर्ण अधिकार होना चाहिये। इसलिये श्री रामदास ने कवियों को "शब्द सृष्टि के ईश्वर" माना था। जितना अधिक शब्दों पर काबू होगा, जितना अधिक शब्दों के विषय मे अभ्यास किया गया होगा, उतनी ही कविता में हृदय ग्राह्यता आती चली जायगी। और उतनी ही श्रुति-मधुरता बढती चली जायगी। प्रत्येक साहित्य के समालोचकों को यही राय है। माईकैलइंजिलो नामक एक प्रसिद्ध शिल्पी ने लिखा था कि जितना संगमरमर कट-छटकर खराब ज्यादा होगा, उतनी ही मूर्ति सुन्दर और भव्य बनती जायगी। (The more the marble wasted the better the statue)

ये शब्द, साहित्य-रचना के लिये उतने ही लाभदायक सिद्ध हुये हैं जितने कि शिल्प-रचना के लिये।

काव्य समालोचना के इन मोटे सिद्धान्तों पर, हमारे यहाँ प्राचीन काल से अत्यन्त ध्यान दिया गया था। भामह ने शब्द और अर्थ के सुन्दर सम्मिश्रण को ही काव्य बतलाया था। रुद्रट, मम्मट, वक्रोक्ति जीवितकार, प्रताप-रुद्र आदि काव्य-शास्त्रियों ने काव्य में शब्द को भी उतना महत्व दिया था जितना अर्थ को, और काव्यादर्श और अग्निपुराण में काव्य का सारा जादू शब्द में ही बतलाया गया है। रस गंगाधर ने तो यहाँ तक लिख दिया था कि—"रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम्।"

शब्दों के चयन पर इतना जोर देने के कारण ही, प्राचीनकाल में, न केवल बडे-बडे राजा, कवि-सम्मान के लिये आतुर रहा करते थे, पर बहुतों ने तो अपने घरों में काव्य रस के अनुकूल भाषा बोलने की कडी व्यवस्था कर ली थी। कविवर राजशेखर की काव्य मीमांसा से हमें पता लगता है कि मगध के राजा शिशुनाग ने अपने अन्त पुर में यह नियम बना लिया था कि कोई 'ट' वर्ग के चारो अक्षर, तीनों ऊष्मवर्ण और सकार का उच्चारण नहीं कर सकता था। शूरसेन के कुविन्द-राजा ने अपने अन्तःपुर में परुषाक्षरों का बोला जाना रोक दिया था और उज्जयिनी के राजा साहसांक के अन्त पुर में केवल शुद्ध संस्कृत भाषा ही बोली जा सकती थी।

काव्य में रमणीय शब्द और "रसात्मक वाक्य" के चयन के विषय में कवियों को कितना सावधान रहना चाहिये, इसके कई दण्डक और आदेश, प्राचीन काव्य-मीमांसाकारों ने बना दिये थे। वामन ने काव्य-दोष बतलाते हुए पद, वाक्य और अर्थ के विभिन्न दोष बतलाए हैं। ध्वन्यालोककार ने रस-विकास में औचित्य का भंग न हो, इस विषय के नियम बनाये हैं और मम्मट ने रसदोष-स्थलों का सविस्तार विवरण दिया है।

इन सब कारणों से ही संस्कृत भाषा में पद-लालित्य, शब्द योजना, और श्रुति-मधुरता बढ़ती चली गई।

हमारे प्राचीन हिन्दी-कवियों ने भी इन्हीं विषयों के अध्ययन पर और आचार्यों के बनाये हुए नियमों के पालन पर विशेष ध्यान दिया था और इसीलिये तुलसी और सूर, बिहारी और मतिराम, घनानंद और रसखान, मीरा और हरिश्चन्द्र के कवित्तों में और पदों में आनन्द-सागर की एक सुन्दर-तरंग मिला करती है।

दुःख का विषय है कि आधुनिक हिन्दी के अधिकांश कवियों ने, अपने प्राचीन आचार्यों के अध्ययन की तरफ साधारण ध्यान देना भी उचित नहीं समझा। अँग्रेजी साहित्य को ही वे अपना आदर्श बनाए बैठे हैं। हिन्दी साहित्य-सम्मेलन का भी ध्यान अभी इस तरफ नहीं गया और इसीलिये हमारे प्राचीन आचार्यों के काव्य-समालोचना के ग्रन्थ, साधारण हिन्दी में अनुवादित नहीं हो पाए हैं। रस गंगाधर और साहित्य दर्पण के हिन्दी-अनुवाद अवश्य निकले हैं, किन्तु वे क्लिष्ट हैं। उनमें हिन्दी कवियों की कविताओं से उदाहरण देकर, सिद्धान्त समझाने का प्रयत्न बिलकुल नहीं किया गया है। अपनी भाषा की रक्षा करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि इन ग्रन्थों का अनुवाद शीघ्र ही साधारण भाषा में आधुनिक हिन्दी कविता के उदाहरणों के साथ प्रकाशित किया जाय।

पाश्चात्य समालोचना-ग्रन्थों के मनन करने के हम विरुद्ध नहीं हैं। एरिस्टॉटल से लेकर ऑरनाल्ड तक कला-मर्मज्ञों के कई वर्ग रहे हैं। सभी का अध्ययन करना समीचीन ही है। इधर फ्रायड, एडलर और डाक्टर युंग के मनोविश्लेषण विज्ञान के आधार पर साहित्यिक समालोचना होनी शुरू हो गई है। इसकी नकल हिन्दी में भी की जानी लगी है। यह शुभ लक्षण अवश्य है। परन्तु भाषा

सम्बन्धी अपूर्णताओं को दृष्टिगत रखा जाय, यही हमारी इच्छा है। नवीन शैलियों का विकास हमारे साहित्य में हो, इससे कौन सहमत न होगा। परन्तु उन नई भूल-भुलइयों मे पडकर नई-नई "थियोरीज" के चक्कर मे, शब्दों पर काबू न करके, अपनी भाषा को क्लिष्ट बना दें, या भाषा की दुर्गति कर डाले, यह किसी भी भाषा-भक्त को सह्य नहीं हो सकता। पाश्चात्य समालोचना के सिद्धान्तों के मनन करने के पूर्व, अपने आचार्यों के मोटे मोटे सिद्धान्त तो हृदयंगम हो जाने चाहिए।

हमारे यहाँ काव्य की अतिम परिभाषा है "वाक्य रसात्मकं-काव्यम्"। कितनी ही आधुनिक पद्य-रचना "रसात्मक वाक्यं" की परिभाषा से बाहर जा रही है। "रसात्मक" समझने की आवश्यकता है। 'रस' का अर्थ है 'आस्वाद्य', जैसे भोज्य और पेय पदार्थो का स्वाद लिया जाता है वैसे ही काव्य-रस का स्वाद लिया जाता है। रसों के आधार भाव हैं। भाव मन के विकारों को कहते हैं जो वाणी, अग-रचना, और अनुभूति के द्वारा, काव्यार्थों की भावना कराते हैं। विभाव, अनुभाव, और व्यभिचारी-भावों के संयोग से जो निष्पति हो, उसे रस कहा गया है। भरत के इस सूत्र की टीकाये अनेक हो चुकी हैं। इसके मूल मे शरीर-शास्त्रीय और मनो-वैज्ञानिक-तत्व निहित है। मानव मन के कुछ स्थायी भाव मान लिए गए है जो कि उपयुक्त अभिनय द्वारा नाट्य में, और शब्दो द्वारा, काव्य मे जागरित, और उद्दीपित होते रहते है। ये स्थायी भाव आठ है, रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, और विस्मय। कोई-कोई 'शम' और बतलाकर नव स्थायी भाव बतलाते हैं। प्रत्येक स्थायी-भाव के आलम्बन-विभाव और उद्दीपन-विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी-भाव होते है। जो भाव लहरों की तरह उठ कर थोड़े ही समय में विलीन हो जाते हैं, वे सचारी या व्यभिचारी भाव कहलाते हैं। जो भाव, रस का आस्वादन होने तक मन में ठहरते हैं वे स्थायी भाव हैं।

यह हजारों वर्ष पूर्व का विवेचन आज भी अत्यन्त आश्चर्य जनक है। आज के मनोविज्ञान के सूक्ष्मतम निष्कर्ष, अधिक से अधिक भी वहाँ तक नहीं पहुँचे। मन के अवश्चेतन (Sub-Conscious) अंश को आज अधिक महत्व दिया जा रहा है। मगर इसी अवश्चेतन अंश का ही तैंतीस व्यभिचारी-भावो में वर्णन है। बिहेवियरिज्म (Behaviourism) और अनुभाव के सिद्धान्त एक से ही हैं। विभावों की पूरी तालिका, मानवी प्रवृत्तियों (Instincts) की विवेचना से टक्कर खाती है। रति या शृङ्गार को जो रसाधिराज इतने हजार वर्ष पहिले भरत मुनि ने स्वीकार किया था, वैज्ञानिक मात्रा में, आज के मनस्तत्ववेत्ता फ्रायड, एडलर या युग उससे अधिक कुछ नहीं कहते। वर्तमान शास्त्रियों के Stimulants, Eroticism, Neurosis, Psychic projection और Determinant Moods पूर्व आचार्यों के सूक्ष्म विवेचन के आगे कुछ भी महत्व नहीं रखते।

परन्तु कठिनाई यह है कि हमारे नवयुवक कवियों के सामने, पूर्व-आचार्यों के सरल उदाहरण सहित ग्रंथ उपस्थित नहीं। जहाँ आदर्श सम्मुख नहीं हो वहाँ स्वभावतः चित्त, अन्य साहित्य की ओर जायगा। वह अन्य साहित्य, आज हमारे देश में अँग्रेजी साहित्य ही है, परन्तु उस अँग्रेजी काव्य को समझने के लिये हमारा लालन-पालन अँग्रेजी वातावरण मे होना चाहिये। जब तक कि ऐसा न हो हम अँग्रेजी काव्य, और उसकी समालोचना, तथा उसके सिद्धान्त समझ ही नहीं सकते। परिणाम यह हुआ कि हम अपने सिद्धान्तों को छोड़ बैठे, और दूसरों के सिद्धान्त हृदयंगम नहीं कर पाये। इसलिये हमारे साहित्य मे एक अद्भुत दल-दल-सा दृश्य उपस्थित हो रहा है।

साहित्यिक-दासता का अन्त होना चाहिये।

हिन्दी के आधुनिक काव्य मे गीति-काव्य (Lyrics) की जो

बाढ़ आ रही है उसमें गँदला-पानी बहुत चला आ रहा है। यदि वह जल स्वच्छ होता (जो कहीं-कहीं अवश्य है) तो उससे साहित्य में निर्मलता निश्चय ही रहती। इस जल में अँग्रेजी छाया अवश्य (और बहुत) दिखाई पड़ती रही है। किसी ने खूब कहा था कि हमारे नये साहित्यिक कोरे स्याही सोखों की तरह हैं। विलायतों में ताजे से ताजे कागज जब काले किये जाते हैं तो उनकी वर्ण-मालाओं के उलटे सीधे प्रतिबिंब ये लोग अपने दिलों में उतार लेते हैं।

हमारे तरुण उदीयमान-साहित्य-सेवियों का कर्त्तव्य यह होना चाहिये कि वे इस साहित्यिक-दासता का अन्त करें। साहित्यिक दासता केवल शैलियों तक ही होती तो गनीमत थी, मगर उसका उग्रतर रूप है विचारों की दासता। इस विचारों की दासता से साहित्य में दो रोग फैले हैं। पहिले तो हमारी मौलिकता का अन्त हो रहा है दूसरे साहित्य में अराजकता या उच्छृंखलता बढ़ रही है।

अन्य साहित्य के अध्ययन करने में हम कोई दोष नहीं समझते और उनकी अच्छी बातें हमारे साहित्य में लेने में भी हमारे साहित्य की भलाई होगी ही। मगर आँख बन्द करके दूसरे साहित्य के पीछे पड़ जाना, किसी भी स्वाभिमानी को शोभा नहीं देता और मुख्य कर उस हालत में जब कि यूरोप में अँग्रेजी साहित्य फ्रेंच, जर्मन, और रूसी साहित्य के बहुत पीछे माना जाता है।

प्रगतिशील साहित्य

श्रम और अगार्जित-धन का सुन्दर समन्वय देशोन्नति के साथ-साथ, देश के नवयुवकों के विचारों पर एक ऐसा प्रभाव उत्पन्न करता है जिससे यथा

वादिता की दृष्टि से हमारे साहित्य में भी नवीन-स्फूर्ति आ सकती है, और यह शुभ लक्षण है कि प्रगतिशील-साहित्य, अच्छी तरह बढ़ रहा है। परन्तु हमारे देश के साहित्य में इस समय जो कमी है वह यह कि अभी तक यह साहित्य ऐसा नहीं हो पाया कि जो मानव जाति की कला की उन्नति को एक पग भी आगे बढ़ा सके। प्रगतिवाद की रचनाए, इस समय अपने शैशव में है, इसलिये उसके सम्बन्ध में अधिक कहना उपयुक्त नहीं है।

प्रगतिवाद पर, हिन्दी में, कतिपय विद्वानों के अपवाद को छोड़कर, जो चर्चाएँ हुई है, वे बहुत ऊपरी सतह की चर्चाएँ है। मार्क्स, एन्जिल्स और लेनिन तो बहुत दूर हैं, लास्की, एन्डरसन, बर्ट्रान्ड रसल और काडविल की पुस्तकें पढ़कर, और उन्हें पचाकर, फिर साहित्य की प्रगति के विषय मे वैज्ञानिक दृष्टिकोण बनाने वाले हिन्दी मे हो ही कितने सकते है ?

यह देखकर वास्तव मे दुख होता है कि आज के अधिकांश प्रगतिशील लेखक, केवल "प्रेस कटिंग" के भरोसे निराशावादी, और निम्न दर्जे का पार्टी-प्रोपेगेन्डा वाला साहित्य-सृजन कर रहे हैं। क्या यह इष्ट है ? क्या इससे मानवजाति के कलात्मक-विकास की दिशा मे एक पैर भी आगे बढ़ाया जा सकता है ?

गोर्की के सभापतित्व में, रूस में एक साहित्यिक-सभा हुई थी, जिसके मैनीफेस्टो के यह वाक्य महत्व के है.—

"हम समझते हैं कि वर्तमान रूसी-साहित्य आश्चयजनक रूप से रीतिबद्ध, दुरूह, और एकरस है। हम कहानियाँ, उपन्यास और पुरानी तथा नवीन-शैली मे रूढ़िग्रस्त नाटक लिखने के लिए स्वतत्र है, बशर्ते कि वह सामाजिक विषय पर हो। हम केवल एक बात चाहते है कि कला की प्रत्येक वस्तु सर्वाङ्गीण और वास्तविक वस्तु हो, और वह जीवन विशेष से अनुप्राणित हो।"

हम अपने नवयुवक प्रगतिशील लेखकों का ध्यान, इस ओर आकर्षित करते हैं कि उनकी रचनाओं में सर्वांगीण और वास्तविक-वस्तुएँ होनी चाहिये। सदियाँ गुजर जायेंगी मगर टाल्सटाय को लोग हमेशा पढ़ते रहेंगे, इसका कारण यही है कि उनकी रचनाएँ जीवन विशेष से अनुप्राणित थीं। यही हाल हमारे प्रसिद्ध उपन्यासकार प्रेमचंदजी का है।

भारतीय प्रान्तिक साहित्य में इस प्रश्न पर, साहित्यिकों में काफी विवेचना हो चुकी है। इस प्रसग में बंगाल में बुद्धदेव बसु, गुजरात में रामनारायण पाठक, और रमणलाल देसाई, महाराष्ट्र में खांडेकर, काणेकर, देशपांडे आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। हिन्दी के कतिपय प्रगतिवादी लेखक, निरे ध्वंसवाद का प्रचार कर रहे हैं। मैं उनसे प्रार्थना करूँगा कि वे ऐसा न करें और गोर्की टाल्सटाय और भारत के प्रान्तीय साहित्यिकों के गम्भीर लेखों का मननपूर्वक अध्ययन करके ऐसे नवीन-साहित्य का सृजन करें जो आशावादी हो। इसी में देश का और नवीन साहित्य का हित है। इस दृष्टि से अभी निकले हुए कुछ कहानी के ग्रन्थ और कुछ उपन्यास अवश्य अच्छे हैं।

हिन्दी का विराट्-रूप

वर्तमान हिन्दी-भाषा वास्तव, में ऐसी भाषा नहीं है, जिसमें बिना परिवर्तन किये सारे देश का काम चल सके। सुधार की अत्यन्त आवश्यकता है। एक संकुचित दायरे से निकाल कर, वर्त्तमान हिन्दी को एक विराट्-रूप देने की आवश्यकता है। उसके शब्द कोश को भी बढ़ाना है। मिलने-मिलाने की शक्ति भी बढ़ानी है। अनेकानेक साहित्यिक-अंगों की भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों के अनुसार पूर्ति करनी है। महाराष्ट्र-देश में हिन्दी को मराठी भाषा मराठी साहित्य, मराठी कहावतों का अधिकाधिक सहारा लेना पड़ेगा। बंगाल में बंगाली-भाषा व साहित्य का प्रभाव

स्वीकार करना पड़ेगा। वहाँ का साहित्य, वहाँ की लोकोक्तियाँ, और वहाँ के रहन-सहन का भी हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव पड़ेगा जिसके लिये हमें उद्यत रहना चाहिये। पंजाब में पंजाबी, गुजरात मे गुजराती, मद्रास मे तामिल तेलगू, मलायलम, और कनाडी-भाषा का प्रभाव हिन्दी भाषा पर पडे बिना कैसे रह सकता है? जिस प्रान्त अथवा जिन प्रान्तों मे फारसी, उर्दू, अरबी या पश्तो के शब्द ज्यादा बोले जाते हैं उन प्रान्तों मे हिन्दी का वह रूप आवेगा जिसे हम आज हिन्दुस्तानी या उर्दू कहते है। इस दृष्टि से इस समय हिन्दी और हिन्दुस्तानी या उर्दू मे भेद दिखाकर एक का समर्थन और दूसरे का विरोध करना देश के ही लिये नहीं, हिन्दी के लिये भी हानिकारक है।

सारे भारत की हिन्दी राष्ट्र-भाषा होते हुये भी प्रत्येक प्रान्त की हिन्दी अलग अपना स्वत्व रखेगी ही। बंगाल में जो हिन्दी भाषा बोली जायगी उससे उस हिन्दी-भाषा मे फर्क होगा जो पेशावर की तरफ लिखी या बोली जावेगी। इंगलिश भी एक ही भाषा है, मगर स्काटलैंड, आयरलैंड, वेल्स, आस्ट्रेलिया, और अमेरिका मे जो अँग्रेजी, बोली या लिखी जाती है, उससे उस अँग्रेजी मे काफी फर्क है जिसे आज हम किंग्स इंग्लिश (King's English) कहते हैं।

जब तक हम हिन्दी के भिन्न-भिन्न रूपों के लिये तैयार नहीं हो जाते तब तक राष्ट्र-भाषा का प्रश्न हल नहीं हो सकता। इतने बड़े महाद्वीप की व्यापक भाषा के लिये विराट्-रूप की अत्यन्त आवश्यकता है।

उत्तर प्रदेश की वर्तमान हिन्दी-भाषा को इसी रूप में सारे देश पर लाद देना अनुचित होगा। यह शुभ लक्षण है कि हिन्दी में आज बंगाली, गुजराती, मराठी, पंजाबी, लेखक न सिर्फ बढ़ रहे है, वरन् वे पर्याप्त लोक-प्रियता भी प्राप्त कर रहे हैं। इस प्रकार

हिन्दी-भाषा नव-नवीन शब्द, मुहावरे, और लोकोक्तियों से परिपुष्ट हो रही है। साथ-साथ हमारी अखिल भारतीय सांस्कृतिक अखण्डता की दृष्टि से भी परस्पर साहित्यिक आदान प्रदान बहुत ही शुभ है। बंगला भाषा के बंगला-भाषी कई मान्य लेखक, हिन्दी साहित्य को आज सुसज्जित कर रहे हैं, यथा सर्व श्री नलिनी मोहन सान्याल, क्षितिमोहन सेन, ऊषादेवी मित्रा आदि। गुजराती के लेखक भी हिन्दी में अच्छे-अच्छे हैं, यथा—श्री काशी, मुंशी, कालेलकर, श्री इन्द्र बसावडा इत्यादि। मराठी के लेखकों में लक्ष्मणनारायणजी गर्दे, पराडकर, माचवे, आगरकर, भालेराव आदि अच्छे लेखक हैं। इन लोगों ने जो हिन्दी साहित्य की सेवा की है वह भुलाई नहीं जा सकती।

राष्ट्र भाषा के लिए शब्द-कोश बढ़ाने की, न कि घटाने की जरूरत है। उसके साथ-साथ भाषा की सम्मिश्रण-शक्ति और समयानुसार बदलते रहने की शक्ति पर भी दृष्टि रखना आवश्यक है। हिन्दी भाषा को सर्वरूपेण उपयुक्त बनाना भी हमारा कर्त्तव्य है।

समय ऐसा आ चुका है कि हमें हिन्दी के रचनात्मक प्रोग्राम बनाकर उन कमियों को पूरा करने के शुभ कार्य करने का श्रीगणेश करने में जुट जाना चाहिए, जो राष्ट्र-भाषा की गद्दी पर बैठालने के लिए, हिन्दी भाषा के लिए साहाय्य प्रदान करेगा।

सम्मेलन के लिए कतिपय सुझाव

सम्मेलन के सामने हिन्दी-साहित्य-सेवियों के संगठन, परस्पर विचार विनिमय का, कार्य-क्रम तो है ही। साथ ही एक "रीडर्स डायजेस्ट" की भाँति ऐसी पत्रिका की योजना होनी चाहिये जिसमें सारे भारतवर्ष के हिन्दी

के मासिक-पत्रों, साप्ताहिक-पत्रों और दैनिक-पत्रों मे निकले हुए सुन्दर साहित्यिक लेखों का सग्रह हो। यह निष्पक्ष भाव से चयन किया जाय व विद्वानों का सम्पादक-मंडल इसका सम्पादन करे। मेरे विचार में इस प्रकार की पत्रिका लोक-प्रिय हो जायगी और वह सग्रह हमारे वार्षिक-साहित्य की प्रगति का भी परिचय करावेगा।

एक दूसरा सुझाव यह भी है कि हम बहु-भाषी बने। अँग्रेजी बोलने की जैसी प्रतिद्वन्द्विता हमारे बीच मे रहती है, यदि प्रान्तीय भाषाओं को जानकर, हम अखिल भारतीय-सस्कृति का अध्ययन और आकलन उदारभाव से कर सके तो कितना अच्छा होगा। क्या यह हमारे लिए लज्जा का विषय नहीं है कि हम चौसर बर्न्स और शेक्सपियर का स्वाद बड़े प्रेम से लेते रहें और अपने ही देश के बकिम, रवीन्द्र, नानालाल, समर्थगुरु रामदास, तुकाराम और कलापी या गालिब या इकबाल को हम मूल में पढ़ने की इच्छा भी न रखें ?

नागरी लिपि में, हिन्दी भाषा में, अर्थों सहित इन लोगों के ग्रन्थों का उन्हीं की भाषा में प्रचार होना आवश्यक है।

सजीव कविता

स्थूल रूप में कला अभिव्यक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और कलाकार की सफलता अथवा असफलता का मापदण्ड उसके भावों की अभिव्यक्ति की सफलता अथवा असफलता ही है। यदि लेखक अथवा कवि अपने भावों को ठीक-ठीक पूर्णत: व्यक्त नहीं कर सका तो हम कहेंगे कि वह अच्छा लेखक या कवि नहीं है, उसका भाषा पर अधिकार नहीं है। अच्छे साहित्यिक के लिए भाषा पर पूरा अधिकार होना अनिवार्य है। साहित्यिक रचना के लिए किसी वस्तु का कोरा वर्णन पर्याप्त नहीं समझा जाता। वह वर्णन रोचक होने के लिए हृदय ग्राही एवं मर्मस्पर्शी भाषा में होना चाहिए। पाठक अथवा श्रोता के हृदय में उन्हीं भावनाओं और अनुभूतियों को उत्पन्न करने के लिए जिनका लेखक स्वयं अनुभव कर चुका है, उसे ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जिससे शीघ्रातिशीघ्र अभिप्रेत अर्थ का पाठक को बोध हो सके।

अतएव अच्छी भाषा के लिए जिन गुणों की आवश्यकता बताई गई है उसमें शुद्धता, सरलता, स्पष्टता, यथार्थता, सामजस्य, लयता और औचित्य के अतिरिक्त सजीवता एव मर्मस्पर्शिता भी हैं। वास्तव मे किसी कवि अथवा लेखक की शैली की मोहिनी-शक्ति को और भी मोहक बनाने के लिए इन्हीं सब गुणों की आवश्यकता हुआ करती है। लेखक के मुकाबिले मे कवि को थोडे से शब्दों द्वारा अधिक गभीर भाव व्यक्त करना भी अनिवार्य हो जाता है और यह अवश्य कठिन कार्य है। महाकवियों की भाषा भाव का अनुगमन करती है। उनकी कविता में ऐसे शब्द होते है जिनके उच्चारण मात्र से अर्थ ध्वनित हो जाता है। जहाँ वे कोमल भावना व्यक्त करना चाहते हैं, वहाँ उनकी भाषा मे ध्वनि-लालित्य एवं श्रुति-कोमलता अपने आप आती रहती है और उग्र भावनाओं को व्यक्त करते समय

उनकी पदावली भी ओजपूर्ण हो जाती है। 'रामचरित मानस' में ऐसे असंख्य उदाहरण भरे पडे हैं। जब हम पढते है कि —

कंकन किंकिन नूपुर धुनि सुनि
कहत लखन सन राम हृदय गुनि

तो छोटे-छोटे कोमल मधुर एव ललित शब्दों को दुहराते हुए ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वास्तव में सीताजी के कंकन, करधनी और नूपुरों की आवाज सुनाई दे रही है और जब वर्षा ऋतु के वर्णन में गोस्वामीजी लिखते हैं कि—

घन घमण्ड नभ गरजत घोरा
प्रियाहीन डरपत मन मोरा

तो प्रथम पंक्ति से बादलों के गरजने की आवाज का यकायक आभास होने लगता है। "घो ओ ओ रा आ आ" शब्द बड़ी देर तक कानों मे प्रतिध्वनित होता रहता है और दूसरी पंक्ति के कोमल शब्दों से, डरे हुए मन की मूर्ति, प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। वास्तव में, नाद-शक्ति (Sound Force) के द्वारा मानसिक चित्र उपस्थित करने में गोस्वामीजी अद्वितीय रहे हैं।

ध्वनि-योजना

ध्वनियों की योजना प्रसङ्गानुसार होनी आवश्यक है। विजय-वाहिनी सेना के वर्णन के लिए श्रुति-मधुर ध्वनि-प्रयोग अथवा कोमल-कान्त पदावली अनुपयुक्त होती है। इसीलिए आचार्य केशवदास की 'राम चन्द्रिका' में महाराज रामचन्द्रजी की सेना का निम्नलिखित वर्णन, ऊँची कल्पना होते हुए भी असंगत ही ज्ञात होता है :—

राघव की चतुरङ्ग चमूचय को गनै केशव
राज समाजनि

सूर तुरङ्गन के उरझे पग तुङ्ग पताकनि की
पट साजनि
टूटि पर तिन ते मुकता धरणी उपमा वरनी
कवि राजनि
बिन्दु किधौं मुखफेननि के किधौं राजसिरी स्रवै
मङ्गल लाजनि

इस छन्द में 'सूर-तुरङ्गन' शब्दों को छोड़कर कोई शब्द ऐसा नहीं है जिससे उत्साह से भरे हुए युद्धोन्मत घोड़ों की बड़ी-बड़ी टापों की आवाज़ कान में सुनाई देती हो। छन्द के सारे वातावरण से प्रतीत यह होता है कि किसी राजा-महाराजा के ब्याह के अवसर पर बरात में शोभा के लिए सजे हुए, आभूषण और बहु-मूल्य झालरों से ढके हुए सुन्दर घोड़े धीरे-धीरे चले जा रहे हैं।।

इसी सेना के वर्णन मे एक दूसरा 'कमल' छन्द इस प्रकार हैं:—

राघव की चतुरङ्ग चमू चपि
धूरि उठी जल हू थल छाई
मानों प्रताप हुतासनि धूम सों
केशवदास अकास न माई
मेटि कैं पञ्च प्रभूत किधौं
विधि रेनुमयी नवरीति चलाई
दु:ख निवेदन को भवभार को
भूमि किधौं सुरलोक सिधाई

इस छन्द मे भी सेना के योद्धाओं के उत्साह, घोड़ों की हिन-हिनाहट, हाथियों की चिंघाड़ अथवा अस्त्र शस्त्रों की गड़गड़ाहट और विजयनाद अथवा शङ्खनाद का किंचित् मात्र भी आभास प्रतीत नहीं होता। कोमल शब्दों के कारण, सेना के कारण उठी हुई 'धूरि' भी नवनीत-सी कोमल 'रेनु' बनकर दैवीरूप में ब्रह्मा के सम्मुख जाती हुई प्रतीत हो रही है।। उत्प्रेक्षा एवं कल्पना सुन्दर

होते हुए भी छन्द का सारा वातावरण अन्तिम दो चरणों में आकर नष्ट-भ्रष्ट हो गया है।

हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि आचार्य केशवदास महाकवि नहीं थे। हमारा तात्पर्य केवल यह है कि प्रसंगानुसार ध्वनियों के आयोजन एवं शब्द-चयन के ऊपर ध्यान न देने के कारण उनकी कविता में उस चमत्कार की झलक नहीं मिलती जो 'रामचरित मानस' में सर्वत्र सुगमता से मिल जाती है। स्वभाव से शृंगारी एवं रसिक होने के कारण केशव की 'रामचन्द्रिका' में जहाँ नैसर्गिक शोभा अथवा शृंगार-स्थलों का वर्णन है वह अवश्य सुन्दर हो गया है। श्रीराम के रंगमहल के विषय में निम्नलिखित चतुष्पदी छन्द पर एक दृष्टि डालनी अनुचित न होगी—

आई बनि बाला गुण गण माला
बुधि-बल रूपन बाढी
शुभ जाति चित्रिणी चित्र-गेह ते
निकसिभई जनु ठाढी
मानों गुणसगनि यों प्रतिअंगनि
रूरक रूर विराजै
बीनानि बजावैं अदभुत गावैं
गिरा रागिनी लाजैं

कोमल एवं सुकुमार शब्दों के द्वारा नृत्य एवं संगीत का आभास अनायास ही होने लगता है। इसी प्रकार निम्नलिखित सुरेन्द्रवज्रा छन्द में अग्नि-परीक्षा के अनन्तर सीताजी की शोभा का इतना सुन्दर वर्णन अन्य किसी काव्य-ग्रन्थ में मिलना दुर्लभ है।

आसावरी माणिक-कुंभ शोभै
अशोक लग्ना बन देवता सी
पालाशमाला कुसुमालि मध्ये
बसन्त लक्ष्मी शुभ लक्षणा सी

आरक्त पत्रा शुभ चित्र-पुत्री
मनौ बिराजै अति चारुबेखा
सम्पूर्ण सिन्दूर प्रभास कैधौं
गणेश भालस्थल चन्द्ररेखा

'रामचन्द्रिका' में जहाँ शृंगार के, रंगमहल के, नैसर्गिक शोभा के अथवा सीताजी के सौन्दर्य के वर्णन सुन्दर हैं वहाँ सेना अथवा युद्ध के वर्णन डगमग-डगमग करते ज्ञात होते हैं। प्रतीत यह होता है कि 'केशव' का हृदय युद्ध से बहुत दूर था अथवा ओजस्वी वर्णन में उनकी लेखनी चलती ही नहीं थी। अश्वमेध यज्ञ के समय लवकुश का लक्ष्मण की सेना के साथ युद्ध का दृश्य वर्णन करते हुए निम्न-लिखित सवैये पर एक दृष्टि डालनी पर्याप्त होगी :—

अति रोष रसे कुश केशव
श्री रघुनायक सों रणरीति रचै
त्यहि बारन बार भईं बहु बारन
खड्ग हनै न गनै बिरचै
तहँ कुंभ फटै गजमोति कटै
ते चले बहु शोणित रोचि रचै
परिपूरन पूर पनारन ते
जनु पीक कपूरन की किरचै।

यहाँ युद्ध की छाया तक का बोध नहीं हो रहा। बारबार 'बारन' 'गजमोति' 'पीक' 'कपूरन' 'किरचै' आदि शब्दों से किसी शृंगारी वर्णन का सा आभास होता है। सवैया छन्द साधारणतः युद्ध-वर्णन के लिए अनुपयुक्त माना गया है। यहाँ छन्द भाव के अनुरूप नहीं है और भाषा में ओज गुण का नामनिशान तक नहीं है। उच्चारण मात्र से तो क्या, बारबार पढ़ने पर भी अर्थ ध्वनित नहीं होता। श्रेष्ठ कवि वे ही होते हैं जो अपनी रचना में प्रसंगानुसार ललित कोमलकान्त पदावली भी सुना सकते हैं, ओजस्वी रचना भी सुना सकते हैं और गम्भीर जलद-नाद भी सुना सकते हैं।

इस सम्बन्ध में श्री महादेवी वर्मा का "एकान्त" पर लिखा हुआ निम्नलिखित सुन्दर गीत भी मुझे सहसा याद आ जाता है—

कामना की पलकों में झूल
नवल फूलों के छूकर अंग
लिए मतवाला सौरभ साथ
लजीली लतिकाएँ भर अंक
यहाँ मत आओ मत्त समीर
सो रहा है मेरा एकान्त

लालसा की मदिरा में चूर
क्षणिक भंगुर यौवन पर भूल
साथ लेकर भौंरों की भीर
विलासी हैं उपवन के फूल
बनाओ इसे न लीलाभूमि
तपोवन है मेरा एकान्त

निराली कल कल में अभिराम
मिलाकर मोहक मादक गान
छलकती लहरों में उद्दाम
छिपा अपना अस्फुट आह्वान
न कर हे निर्झर ! भङ्ग समाधि
साधना है मेरा एकान्त

विजय वन में बिखरा कर राग
जगा सोते प्राणों की प्यास
ढाल कर सौरभ में उन्माद
नशीली फैलाकर निश्वास
लुभाओ इसे न मुग्ध वसन्त
विरागी है मेरा एकान्त

वेदना-प्रधान कवियित्री को एकान्त बड़ा प्रिय है। वह उनकी तपोभूमि, वैराग्य का स्थान एवं साधना स्थल है। किन्तु मत्त समीर,

विलासी भौंरे, मदोन्मत्त वसन्त और कलकल करता हुआ निर्झर उनके एकान्त में विघ्न डाल रहे हैं। अतएव वह उनसे प्रार्थना करती है कि उसके एकान्त को भंग न करें।

कल्पना की आभा एवं भावनाओं का बाहुल्य होते हुए भी हमें इस गीत में तपस्या की कठोर-भूमि एवं कठिन साधना-स्थल का कोई परिचय प्राप्त नहीं होता। कोमल शब्दों का जिस प्रकार प्रयोग किया गया है उनसे वह वातावरण दुष्यन्त और शकुन्तला के प्रेम-परिणय के लिए नैसर्गिक शोभा द्वारा सजा हुआ कण्व ऋषि के आश्रम का एक भाग प्रतीत होता है, जहाँ शृंगार रस के उद्दीपन विभाव के रूप में एकान्त स्थल का वर्णन, लालसा की मदिरा, विलासी भौंरों की लीला-भूमि, मोहक-मादक गान और नशीले निश्वास, रति-प्रेम और अनुराग आदि मनोविकारों को बढ़ाने में समर्थ हो सकते हैं। किन्तु न तो यहाँ एकान्त की शुष्कता अथवा भीषणता का आभास होता है और न शान्त स्थल का ही वातावरण प्रतीत होता है जहाँ शान्ति से बैठ कर परमात्मा का चिन्तन किया जा सकता हो।

गोस्वामीजी ने भी 'रामचरित मानस' के उत्तर काण्ड में भगवान् शिवजी के मुख से श्री काकभुशुण्डिजी के एकान्त-स्थल का वर्णन कराया है। वह वातावरण बिल्कुल ही दूसरा है। शिवजी पार्वती से कहते हैं :—

गिरि सुमेर उत्तर दिसि दूरी
नील सैल इक सुन्दर भूरी।
तासु कनकमय सिखर सुहाए
चारि चारु मोरे मन भाए।
तिन्ह पर इक इक बिटप बिसाला
बट पीपर पाकरी रसाला।
सैलोपरि सर सुन्दर सोहा
मनि सोपान देखि मन मोहा।

सीतल अमल मधुर जल, जलज बिपुल बहुरंग।
कूजत कलरव हंस गन, गुंजत मञ्जुल भृङ्ग ॥

तेहि गिरि रुचिर बसइ खग सोई।
तासु नास कल्पान्त न होई ॥
मायाकृत गुन दोष अनेका।
मोह मनोज आदि अविवेका ॥
रहे व्यापि समस्त जग माँहीं।
तेहि गिरि निकट कबहुँ नहिं जाहीं ॥
तहँ बसि हरिहि भजइ जिमि कागा।
सो सुनु उमा सहित अनुरागा ॥
पीपर तरु तर ध्यान सो धरई।
जाप जग्य पाकर तर करई ॥
आँब छाँह कर मानस पूजा।
तजि हरि भजन काज नहि दूजा ॥

यहाँ भगवान ही आलम्बन हैं, बहुरंग कमल, मंजुल भृंग, सुन्दर तालाब, बट, पीपर, पाकरी, और आम्र वृक्ष हरि-विषयक रति के उद्दीपन में सहायक होते हैं। देव विषयक रति भक्ति का पर्याय है और श्री रूप गोस्वामी ने अपने 'उज्ज्वल नीलमणि' में माधुर्य-रस (अथवा भक्ति-रस) को सबसे अधिक उज्वल-रस बतलाया है। मधुर से मधुर परमानंद देने वाला यह रस 'राम-चरित-मानस' के उत्तर-काण्ड में भरा पड़ा है। भक्ति-रस के साथ साथ मोह, मनोज आदि अविवेकों का अभाव एवं 'निर्वेद' का अस्तित्व बता कर शान्त-रस का वातावरण भी ला दिया गया है। वास्तव में काकभुशुण्डि के एकान्त-स्थल का चित्ताकर्षक-वर्णन करके गोस्वामीजी ने पाठक का ध्यान आगे आने वाले विषय, काकभुशुण्डि की पूर्व-जन्म कथा, ज्ञान-भक्ति-निरूपण, ज्ञान-दीपक, भक्ति और भजन की महान-महिमा की ओर बरबस आकर्षित कर लिया है।

यदि एकान्त-स्थल का ऐसा सुन्दर वर्णन न होता तो संभवतया आगे आने वाले विषयों के पढ़ने में भी चित्त न लगता।

जहाँ एकान्त-स्थल की नैसर्गिक शोभा, कुछ शब्दों द्वारा शान्त-रस मे अथवा निर्वेद या वैराग्य की व्यजना में वाधा उपस्थित करती है, वहाँ दूसरे शब्दों द्वारा अथवा कुछ शब्दों के हेर-फेर के द्वारा वही नैसर्गिक-शोभा भक्ति भाव को पूर्ण-रूपेण सहाय्य भी प्रदान करने लगती है। गोस्वामीजी की 'हरि भक्ति' 'सयुत-विरत विवेक' थी। अतएव भक्ति के साथ-साथ शान्त-रस का उद्रेक होना कोई असम्भव बात नहीं है।

भक्त एव धर्मात्मा होने के कारण श्री काकभुशुंडि के एकान्त-स्थल के सुन्दर एवं मनमोहक-वर्णन मे सफल होना स्वाभाविक ही है, किन्तु वीर-रस अथवा युद्ध के वर्णन में भी गोस्वामीजी ने वैसी ही सफलता प्राप्त की है। कुम्भकर्ण के युद्ध सम्बन्धी निम्नलिखित दोहे चौपाइयों से हमारे मत का समर्थन होता है —

महानाद करि गर्जा, कोटि कोटि गहि कीस।
महि पटकइ गजराज इव, सपथ करइ दससीस॥

भागे भालु बलीमुख जूथा। बृकु बिलोकि जिमि मेख बरूथा॥
चले भागि कपि भालु भवानी। बिकल पुकारत आरत बानी॥
यह निसिचर दुकाल सम अहई। कपिकुल देस परन अब चहई॥
सकरुन बचन सुनत भगवाना। चले सुधारि सरासन बाना॥
खैंचि धनुष सर सत सधाने। छूटे तीर, सरीर समाने॥
लागत सर धावा रिस भरा। कुधर डगमगत डोलति धरा॥
लीन्ह एक तेहि सैल उपाटी। रघुकुल तिलक भुजा सोई काटी॥
धावा वाम बाहु गिर धारी। प्रभु सोइ भुजा काटि महि पारी॥
काटें भुजा सोह खल कैसा। पच्छहीन मंदर गिरि जैसा॥
उग्र बिलोकनि प्रभुहि बिलोका। ग्रसन चहत मानहुँ त्रैलोका॥

करि चिक्कार घोर अति, धावा बदनु पसारि ॥
गगन सिद्ध सुर त्रासति, हा हा होति पुकारि ॥

'मानस' में युद्ध के सभी वर्णन इसी प्रकार ओजपूर्ण हैं। चौपाई और दोहे अत्यन्त छोटे छन्द होते हुए भी गोस्वामीजी ने इन्हीं छोटे छन्दों द्वारा नाना प्रकार के विषयों का एवं नवों रसों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। हमने एक अन्य लेख में लिखा था कि 'साकेत' के प्रारम्भ करने के लिए यदि छोटा छन्द प्रयुक्त न किया जाता तो 'साकेत' अधिक सफल काव्य-ग्रन्थ होता। छोटा छन्द श्रद्धेय गुप्तजी की शैली के अनुकूल नहीं है। उनकी शैली तो गीतिका, हरिगीतिका अथवा रोला छन्द के अनुकूल प्रतीत होती है और उनकी काव्य-प्रतिभा इन्हीं छन्दों में प्रस्फुटित हुई है। 'साकेत' के प्रथम चार सर्गों में अन्त्यानुप्रास एवं पाद-पूर्ति घड़ी की 'टिक-टिक-टिक टिक' की भाँति शुष्क एवं नीरस आती चली जाती है, परन्तु 'मानस' की चौपाइयाँ अत्यन्त सजीव-भाषा में रची गई हैं जो समुद्र की उन लहरों की भाँति हैं जो एक ही स्थल पर देखने से नाना रूप-रंग की, कभी छोटी कभी बड़ी, कभी साधारण, कभी विकराल, प्रतीत होती हैं, और जो नाना प्रकार के घात-प्रतिघात करती रहती हैं किन्तु जिनको देखते चित्त किंचित भी नहीं थकता। सुन्दर काव्य की कसौटी यह नहीं है कि उसकी कितनी प्रतियाँ बिकीं या कितने व्यक्तियों ने उसे पढ़ा? यदि एक पाठक ने भी उस काव्य को तीस चालीस बार पढ़ा हो और फिर भी उसका पढ़ने को चित्त चाहता हो तो हम उसे अवश्य सुन्दर-काव्य की श्रेणी में ला सकेंगे।

'रामचरित-मानस' की पद्धति पर दोहा, चौपाई में लिखे गए कई आधुनिक काव्य-ग्रन्थों में, भाषा-सौष्ठव एवं प्रबन्ध सौष्ठव की दृष्टि से राजनीति एवं देशभक्ति से ओत-प्रोत, पं० द्वारिकाप्रसादजी मिश्र का 'कृष्णायन' सर्वोपरि है।

भगवान् कृष्ण का जन्म अयोध्या मे नहीं हुआ था, मथुरा (ब्रज-भूमि) में हुआ था। इसलिए ब्रजभाषा अथवा खड़ी बोली को छोड़ कर 'कृष्ण-चरित' का अवधी भाषा मे लिखा जाना कुछ खटकता अवश्य है किन्तु कविवर का अवधी भाषा पर अच्छा अधिकार प्रतीत होता है। संस्कृत-प्रचुर तत्सम शब्दों के कारण यद्यपि 'मानस' का माधुर्य उसमे सर्वत्र नहीं मिलता, फिर भी कृष्णायन में प्रसगानुकूल शब्द-योजना पर अधिकतर ध्यान दिया गया है।

'जय काण्ड' से, भीम-दुर्योधन गदा-युद्ध विषयक, ओजपूर्ण सुगठित भाषा के एक सुन्दर अश को, उदाहरण के रूप मे यहाँ उद्धृत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते :—

उत्थित गदा गुर्वि, गिरि सारा।
आरमेउ समुहाय प्रहारा॥
मनहुँ द्विरद-द्वय दन्ताघाता।
चहत क्रुद्ध अन्योन्य निपाता॥
गत प्रत्यागत, मंडल विचरण,
महा रौद्र रण लोम प्रहर्षण।
मही चरण निर्घात प्रचण्डा,
दमकत अन्तराल भुजदण्डा।
पुनि पुनि घोर गदा—सघर्षण,
भुवन-व्यापि जनु वेणु-स्फोटन।

अग्नि-कणन परिवृत सुभट, शोभित दोउ विशाल।
उड़त ज्योतिरिङ्गण मनहुँ, घेरि महा तरु शाल॥

शत शत निर्दय करत आक्रमण,
रक्त-सिक्त दोउ नख-शिख भीषण।
धावत क्षत-विक्षत अँग-अगा,
रुधिर गन्ध जनु मत्त मतङ्गा।

शोणित परिप्लुत गदा भँवायी,
हनति गरजि अरि छिद्रहिं पायी।
मूर्त सत्व दुर्योधन भीमा,
बल अगाध अभ्यास असीमा।
जानत गति विधि दोउ अनन्ता,
दुराधर्ष, दुर्जेय, दुरन्ता।
प्रकटत कौशल, भुज-बल-वैभव,
सकत न करि इक-एक पराभव।
युद्धत वध प्रण बद्ध वृकोदर,
क्रुद्ध, रौद्र मानहुँ यम सहचर।
जानि पणीकृत रण निज प्राणा,
युद्धत कुरुपति करि छल नाना।

दोहा—बढति बुझत जिमि दीप-द्युति तिमि सतेज कुरुनाह।
लब्ध सधि ध्वसेउ गरजि, पाण्डु सुवन-सनाह॥

सोरठा—कपट कुशल समुहाय, कर-लाघव प्रकटाइ पुनि।
भीम दृगन चौंधाय, हनी घोर सहसा गदा॥

गदा-युद्ध का यह बड़ा प्रभावोत्पादक वर्णन है। जहाँ एक दूसरे को बचा कर बड़ी जल्दी से एक दूसरे पर भीम-दुर्योधन घात करते हैं, वहाँ कवि की भाषा भी चपल एवं गतिशील हो जाती है। और जब हम सोरठे के अन्त में पढ़ते हैं कि 'हनी घोर सहसा गदा' तो भाषा के एकदम मन्द पड़ जाने से गदा का आघात सहसा आँखों के सामने आ जाता है।

सुगठित भाषा फिर वैसी ही आगे भी चली चलती है, किन्तु जब हम पढ़ते हैं :—

क्रोधित भीम भैरवाकारा
कर्षेउ आहु देह-बल सारा

तो हमें कुछ अनौचित्य प्रतीत होता है। शब्द 'भैरवाकारा' अनुपयुक्त है। 'मानस' में जब विभीषण द्वारा कहलवाया गया कि–

नाथ! भूधराकार सरीरा। कुम्भ करण आवत रणधीरा॥

तो शब्द 'भूधराकार' में कुम्भकरण का यथार्थ चित्र उपस्थित करने की पूरी सामर्थ्य प्रकट होती थी जो 'परवताकार' कहने में नहीं आ सकती थी। 'भूधर' शब्द भारी भरकम है 'परवत' कोमल है। अब 'भैरव' सृष्टि के सहार करने वाले हैं, भीमसेन यहाँ न तो सृष्टि का सहार कर रहे थे और न किसी सेना का संहार करने में लगे हुए थे। यह केवल दो व्यक्तियों का गदा-युद्ध था। केवल दो व्यक्तियों के गदा-युद्ध अथवा मल्ल-युद्ध के समय एक को 'भैरवाकार' बताना अनुचित प्रतीत होता है। फिर भैरव का आकार देकर भी कोई कार्य भैरव के अनुरूप नहीं कराया गया। भीमसेन ने सिर्फ यही तो किया कि सारी देह का बल अपनी बाहों में खींच लिया॥ केवल देह का बल बाहों में खींचने के लिए, किसी को भैरव का रूप बता देना और भी अनुचित है। भैरव के सकेत मात्र पर सृष्टि का संहार हो सकता है। बाहुओं मे बल खींचने की आवश्यकता ही क्या है?

शब्द-चयन

काव्य में प्रसंगानुकूल ध्वनियों के आयोजन के अतिरिक्त शब्द-चयन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है। एक भी शब्द अशुद्ध अथवा अनुचित प्रयुक्त होने के कारण अर्थ का अनर्थ हो सकता है और रस में भी व्याघात पहुँच सकता है। इसीलिए रचना में कवि को सावधानी रखनी चाहिए। सावधानी से सामान्य शब्द से सरसता बढ़ सकती है और असावधानी से विरसता आ सकती है। 'बिहारी' के—'बड़री अँखियन को निरखि आँखिनि को सुख होत' दोहे में 'बड़री' शब्द से सरसता अधिक बढ गई है। 'रसखान' का एक सवैया है :—

उनहीं के सनेह न सानी रहैं,
उनहीं के जु नेह दिवानी रहैं।
उनहीं की सुनैं न औ बैन त्यों,
सैन सों चैन अनेकन ठानी रहैं।
उनहीं संग डोलनि में रसखानि,
सबै सुख-सिंधु अघानी रहैं।
उनहीं बिन ज्यों जल हीन ह्वै मीन सी,
आँखि मेरी अँसुवानी रहैं।

यहाँ 'अँसुवानी' (आँसुओं से डबडबाती हुई) शब्द ने सारी कविता में एक नई जान डालदी है, एक जादू-सा भर दिया है। सवैया अन्त में आकर अत्यन्त सरस हो गया है। जहाँ एक शब्द सारी कविता को अत्यन्त सरस बना सकता है, वहाँ दूसरा शब्द कविता को विरस या अशिष्ट भी बना सकता है। 'कृष्णायन' के 'आरोहण काण्ड' में निम्नलिखित दोहा और चौपाई ध्यान देने योग्य हैं :—"

लखि हरि शय्या पद धरेउ,
भीष्म चरण रज लीन्ह।
फूटी वाणी कण्ठ ते,
भक्त प्रभु स्तुति कीन्ह ॥ ३६ ॥
सिरजत प्रथम विश्व तुम स्वामी।
तुमहि विधाता रूप नमामी ॥
पालत बहुरि तुमहि भव नाथा।
वन्दहु विष्णु रूप नत माथा ॥
प्रकटि, पालि पुनि करत सँहारा।
बदहुँ शम्भु स्वरूप तुम्हारा ॥'

यहाँ 'फूटी वाणी' ने शंका उत्पन्न करदी है। जहाँ निर्झर का अनायास 'फूट पड़ना' अच्छे भाव में कहा जाता है, वहाँ किसी

वस्तु का 'फूटना' या 'फूट जाना' अथवा 'फूटा हुआ' होना उस वस्तु के नष्ट हो जाने के भाव मे कहा जाता है। कवि का आशय यह है कि भीष्म के कण्ठ से अनायास ही स्तुति का स्रोत बह निकला। कण्ठ से वाणी फूट निकली। किन्तु शब्द 'फूटी' से वह भाव न आ कर उल्टा अशिष्ट भाव हो गया है—कण्ठ की फूटी हुई वाणी से भक्त ने प्रभु की स्तुति की, अथवा फूटी बाल्टी के स्वर से भीष्म के कण्ठ से स्तोत्र चलता रहा!! 'फूटी हुई' और 'फूट पडी' मे बहुत भेद है।

विधाता का 'सिरजत' विष्णु का 'पालत' कर्तव्य तो ठीक बताया है, किन्तु सहार करने का कार्य 'शभु' का नहीं है। शिव के अनेकानेक नामों में 'शभु' नाम अच्छे काय (शुभ कार्य) के करने में प्रयुक्त होता है, सहार कारक काम मे नहीं। 'वन्दहुँ रुद्र-स्वरूप तुम्हारा' उचित होता। शङ्कर नाम भी सहार करने के भाव में प्रयुक्त नहीं होता। 'शभु' का अर्थ 'आह्लादकारी' और 'शकर' का अर्थ 'मगलकारी' है। विनय पत्रिका के ये पद प्रसिद्ध हैं'—

(१)

को जॉचिए सभ तजि आन।
दीन दयाल भक्त आरत हर, सब प्रकार समरथ भगवान।

(२)

दानी कहुँ शङ्कर सम नाही।
दीन-दयालु दिवोई भावै, जाचक सदा सोहाहीं।

रामचरित मानस मे "को कृपालु शङ्कर सरिस" कहा गया है। जो आधुनिक कवि 'शङ्कर' और 'प्रलयङ्कर' की तुक मिला रहे है, उनका आधार गीता के दसवें अध्याय का श्लोक 'रुद्राणां शङ्करश्चास्मि' है। मगर गीता के इस वाक्य का अर्थ यह नहीं है कि रुद्रों में शङ्कर ही सबसे अधिक संहारकारी है। इस वाक्य को

दूसरे वाक्यों से तुलना करनी चाहिए जैसे 'वृक्षों में अश्वत्थ मैं ही हूँ', वाणी मे ओंकार, वेदों में सामवेद, आदित्यों मे विष्णु, नक्षत्रों में चन्द्रमा, दैत्यों में प्रह्लाद, विद्याओं में अध्यात्म विद्या, वैदिक स्तोत्रों में बृहत्साम, शब्दों मे गायत्री छन्द, महीनों में मार्गशीर्ष, ऋतुओं मे कुसुमाकर, गंधर्वों मे चित्ररथ, सिद्धों मे कपिलमुनि, घोड़ों मे उच्चैःश्रवा, गजेन्द्रों में एरावत और यज्ञों में जपयज्ञ मैं ही हूँ।' इस प्रकार तुलना करने पर पता चलता है कि रुद्रों में अधिक सहारकारी नहीं किन्तु सर्वश्रेष्ठ शंकर बताए गए है। रुद्रों की संख्या ग्यारह है। उनके नाम भागवत, पद्मपुराण, विष्णुपुराण, कूर्मपुराण और गरुड़पुराण में भिन्न-भिन्न मिलते हैं। वे जगत के आदिदेव महादेव की प्रकृति भेद मात्र हैं। कभी वे शान्तिमूर्तिधर सदाशिव तो कभी विश्वनाशकारी रुद्रमूर्ति धारण कर मनुष्यों के समक्ष प्रकट होते हैं। स्कन्दपुराण में स्वयं शिव ने कहा है कि "भक्तों के सर्वदा ध्यान में तुष्ट हो उन्हें पवित्र तथा निरामय करने के कारण मेरा नाम शङ्कर हुआ है।" "श कल्याणं करोतीति शम् कृ इतिअच्" इस व्युत्पत्ति से भी सबका जो मगल करता है, वह ही शङ्कर है।

स्वर्गीय महामहोपाध्याय पं० गङ्गानाथजी झा ने अपने कवि रहस्य' में 'केशव' की 'कविप्रिया' के "सिद्ध शिरोमणि संकर सृष्टि सँहारत साधु-समूहभरी है" को उद्धृत करके 'सकर' पद में "सृष्टि सँहारत" के साथ आने के कारण अनौचित्य बताया है और इसी लिए जब 'कृष्णायन' के 'जय काण्ड' मे हम पढते हैं :—

रौद्र त्रिपुर वैरी जनु शङ्कर
फैंकी गिरि-गुरु गदा भयङ्कर

तो यही अनौचित्य कुछ खटकता है।

शब्दों के पर्याय

हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि यह शब्द अशुद्ध है, केवल यह कहना है कि यह प्रयोग बचाया जा सकता था। एक एक शब्द के अनेक पर्याय विद्यमान हैं। प्रसंग के अनुसार उनका उचित उपयोग किया जाना चाहिए। प्रत्येक शब्द की प्रवृत्ति भिन्न भिन्न होती है। भगवान कृष्ण के वासुदेव, नन्दलाल, ब्रजराजदुलारे, माधौ, घनश्याम, गिरिधर, गोवर्धनधारी, हृषीकेश, पुरुषोत्तम केशव, गोविन्द, मधुसूदन, जनार्दन, यदुनाथ, योगेश्वर, अच्युत्, कन्सारि आदि अनेकानेक नाम हैं। 'सूर' के 'श्याम' और 'मीरा' के 'गिरिधर नागर' अत्यन्त प्रसिद्ध हो चुके हैं। एक एक नाम में सहस्रों वर्षों के भाव निहित हैं, एक एक नाम का उच्चारण हृदय में भिन्न-भिन्न भावनाओं को उत्पन्न कर सकता है। सारे प्रसंगों में एक ही नाम प्रयुक्त करना ठीक नहीं। महाभारत युद्ध के प्रसंग में 'घनश्याम' या 'नन्दलाल' का नाम साधारणतः उपयुक्त नहीं होगा। 'नन्दलाल' या 'ब्रजराजदुलारे' कहते ही भगवान् कृष्ण की बाल-रूप की मूर्ति आँखों के सामने आ जाती है जिसे अतुल कमनीय बनाने एवं मंजुल वात्सल्य भावनाओं से स्निग्ध करने में 'अष्ट छाप' के भक्त कवियों ने कोई कसर नहीं छोड़ी। भक्त परमानन्ददास के निम्नलिखित दो पदों का उल्लेख हमारे आशय को और भी स्पष्ट कर सकेगा—

> भली यह खेलिबे की बानि
> मदन गोपाल लाल काहू की नाहिन राखत कानि।

अथवा

> जसोदा तेरे भाग्य की कही न जाय
> जो मूरति ब्रह्मादिक दुर्लभ सो प्रकटे हैं आय।
> सिव नारद सनकादिक महामुनि मिलिबे करत उपाय,
> ते नँदलाल धूरि धूसर बपु रहत गोद लिपटाय।

कृष्ण के बालरूप के ये वर्णन स्वाभाविक एवं अत्यन्त हृदय-ग्राही हैं। शृङ्गार के वर्णन में कविवर बिहारी ने भगवान् कृष्ण के नामों में 'बिहारीलाल' अथवा 'त्रिभंगीलाल' ही लिए हैं जो शृङ्गार के प्रसंग में उपयुक्त हैं। शब्द 'नन्दलाल', वास्तव में, बालक कृष्ण के गाय चराने, अथवा बच्चों के खिलवाड इत्यादि की क्रिया की स्मृति को ही हृदय मे जगाता है। इसीलिए किसी क्रूर कर्म अथवा शूरता, वीरता अथवा कठोर या ऐसे कार्य के सम्बन्ध में जो बालक के लिए असम्भव हो शब्द 'नन्दलाल' का प्रयोग उचित नहीं प्रतीत होता। 'कृष्णायन' के 'अवतरण-काण्ड' में जब गोवर्धन पर्वत उठाने का समय आया है तो, शत-शत कण्ठों से यह पुकार आई है कि:—

मेघ सुभट विद्युत धनुष,
बूँद बूँद खर बाण,
अब विलंब नँदलाल कस,
निकसत ब्रज-जन प्राण!

यहाँ 'नन्दलाल' शब्द अनुपयुक्त जँचता है, क्योंकि ब्रज-जन भी यह जानते होंगे कि बालक नन्दलाल गोवर्धन धारण नहीं कर सकते, उन्हें गिरिधारी, बनना चाहिए॥

जो शब्द 'नन्दलाल', गोवर्धन उठाते समय, उचित प्रतीत नहीं होता, वही शब्द अथवा वैसे ही शब्द 'कान्ह' 'घनश्याम' ब्रजनाथ' आदि, प्रसंगानुकूल होने के कारण, महाभारत युद्ध के अवसर पर, बडे सुन्दर ज्ञात होते है। 'कृष्णायन' के कवि की यह कल्पना सर्वथा मौलिक है कि युद्ध के समय, सूर्यग्रहण होने के कारण धर्म-क्षेत्र कुरुक्षेत्र में सन्त, साधु, धर्मात्मा, महात्मा आदि दूर-दूर से आकर एकत्र हुए, द्वारका से यादव और ब्रज से नन्द, यशोदा, राधा, ललिता, विशाखा आदि के साथ ब्रजजन भी आए। इस कल्पना के द्वारा मिश्रजी ने असाधारण प्रतिभा दिखाकर बाल

गोपाल गोपीजन-वल्लभ कृष्ण और महाभारत के कर्मयोगी कृष्ण को एक सूत्र में पिरोकर एक स्थान पर दोनों का सम्मिलन ही नहीं दिखाया है, प्रत्युत यशोदा का मातृ-प्रेम और गोपियों के स्निग्ध प्रेम के मृदुल स्पर्श का सुखद अनुभव कराकर अपनी लेखनी की उस शक्ति का परिचय दिया है जो घोर युद्ध के विकट वर्णन के साथ-साथ वात्सल्य प्रेम की मंजुल भावनाओं का भी ऐसी सुन्दर भाषा में वर्णन कर सकती है, जिसे पढ़ कर हृदय आनन्द-सागर में डूब जाता है। गीताकाण्ड का यह अंश हमने कई बार पढ़ा है और बराबर बार-बार पढ़ने को जी चाहता है --

दोहा---लखतहिं यशुदा नँद शकट, धाए पंकज नैन।
गहे पदाम्बुज "कान्ह" कहि, निकसे और न बैन॥

चौपाई--- तजेउ नन्द रथ पुलकेउ गाता,
सकी विलोकि न श्यामहिं माता।
नामहिं सुनि विह्वल महतारी,
बुझी ज्योति दृग उमहेउ वारी।
हरि जस ललकि भुजन भरि लीन्हा,
परस पुरातन सुत निज चीन्हा।
शमि विरहज चिर उष्ण नयन-जल,
आनँद---अश्रु बहैं हिम---शीतल।
सुरसरि-जल निदाघ जनु दाहा,
बहेउ हिमालय---सलिल प्रवाहा।
लहि दृग शक्ति विलोकेउ माता,
मूर्ति अङ्क निज प्राण---प्रदाता।
चिबुक हस्त विधु बदन विलोकति,
सिक्त कपोल सलिल दृग मोचति।
फेरति मस्तक कर महतारी,
विह्वल श्रीहरि विश्व बिसारी।

दोहा— लखेउ मातु सुत सम्मिलन, जिन तेहि छण, तेहि ठौर,
ब्रह्मानन्द निमग्न ते, भए और के और।

लखी समीपहि श्याम सनेही,
राधा भक्ति धरे जनु देही।
आनन इन्दीवर अम्लाना,
प्रभु—पद—दत्त—दृष्टि सह प्राणा।
लखि सच्चिदानन्द निज सन्मुख,
हरि तन्मय, उत्कठित, उन्मुख।
राधा माधव मिलन अनूपा,
हरि राधा, राधा हरि—रूपा।
बिनसेउ काया – माया – माना,
भेंटेउ मुक्त—जीव भगवाना।

दोहा—ललित स्वर ताही समय, प्रविशेउ श्रुति अभिराम
"भये भूर, अब तो तजहु, ठग-विद्या घनश्याम"।

गिरा ललित सुनि श्री हरि हेरे,
ठाढे गोप——गोपिजन घेरे।
पियत वदन छवि अमिय विलोचन,
मानत निमि—निपात जनु बचन।
भेंटत इष्ट देव तन पुलके,
अग स्पर्श हर्ष दृग छलके।
बिकसे हरिनयनहु अभिरामा,
सार्थक "पुरी कान्ह" प्रभुनामा।
ललितहि मिलत कहत सुखराशी,
"दिखहु न सखि ! तुम मोहि ठगीसी"।
कहेउ विशाखा सुनि मुसकायी,
"ठगेउ हमहि सो अन्य कन्हाई"।

दोहा— वह न चक्र-प्रिय, युद्ध प्रिय, नहिं वयस्क यदुनाथ,
वह वंशी प्रिय, रास-प्रिय, बालकृष्ण, ब्रजनाथ ॥

उपर्युक्त पद्य में भाषा-प्रवाह के साथ भाषा की स्वाभाविकता एवं सजीवता भी ध्यान देने योग्य है। सरल हृदया माता यशोदा का चित्त युद्ध की चर्चा सुनकर अथवा राजवैभव देखकर घबड़ाता नहीं। प्रत्युत, अपने बिछुड़े हुए पुत्र "कान्ह" का नाम सुनकर एकाएक हृदय गद्‌गद् हो जाता है और सारा ध्यान 'बालकृष्ण' में केन्द्रित हो जाता है। पुरानी स्मृतियाँ जग उठती हैं। "नामहिं सुनि विह्वल महतारी" और "फेरति मस्तक कर महतारी" पढ़कर मातृ-स्नेह एवं वात्सल्य भाव का चरम विकास दृष्टि के सम्मुख आ जाता है। शब्द "महतारी" द्वारा ममता की साकार मूर्ति माता के कोमल हृदय के अन्तरतम कोने में सहसा उत्पन्न चित्रों की मनोरम झाँकियाँ दिखाई देने लगतीं हैं, और दोहे में यह पढ़कर कि इस 'मातृ-सुत सम्मिलन' को जिन्होंने देखा वह "ब्रह्मानन्द निमग्न" होकर "और के और" हो गए अनायास ही यह सिद्धान्त ही समझ मे आ जाता है कि भक्तों की भक्ति को आधार-शिला माता यशोदा का चरम विकास पर पहुँचा हुआ यही वात्सल्य-भाव है। फिर, भक्ति का सशरीर रूप आत्म विभोर राधा का चित्र भी दर्शनीय है। राधाकृष्ण के जिस प्रेम की अतिरंजना ने अनङ्ग-रंग-रंजित भावना द्वारा कृष्ण का रूप विकृत कर दिया था उसी प्रेमी कृष्ण के रूप को, अश्लीलता के पङ्क से उठाकर, 'कृष्णायन' के इस प्रसंग में, एक शुद्ध परिमार्जित रूप में उपस्थित किया गया है। "हरि राधा हरि रूपा" और "बिनसेउ काया-माया माना, भेंटेउ जीव-मुक्त भगवाना" पढ़कर राधा की भक्ति व्यक्तिगत संकुचित परिधि से निकल कर शान्त रस के अनन्त-सागर में परिणत होती दिखाई देती है। ललिता द्वारा ठग दिया घनश्याम" कहलाकर भगवान कृष्ण के बाल जीवन की समस्त चेष्टाएँ और क्रियाएँ, माखन चुराकर खाना, दही लूटना, मीठी बातें बना बना कर

झूँठ बोलना आदि यकायक आँखों के सामने आ जाती हैं और विशाखा के मुख से यह वाक्य कहलाकर कि वह कृष्ण तो "वशी-प्रिय रास-प्रिय बालकृष्ण व्रजनाथ" थे यह बात पूर्णतया स्पष्ट कर दी गई है कि व्रजवीथिकाओं में रास-लीला की कथा केवल कृष्ण के बालपन की क्रीडा थी, उनके यौवन काल से उसका कोई सम्बन्ध नहीं था। वास्तव में, अन्तिम दोहे में हरिवंश पुराण और श्रीमद्भागवत, जयदेव, विद्यापति और सूर के चपल एवं चञ्चल बालकृष्ण और प्रेमी कृष्ण और महाभारत और गीता के वयस्क, राजनीतिज्ञ, चक्रप्रिय, युद्धप्रिय, धर्मसंस्थापक, कर्मयोगी शान्तकृष्ण का सुन्दर समन्वय दिखाकर, काव्यमय काल्पनिक जगत का और ऐतिहासिक वर्णन का सफलतापूर्वक सामंजस्य स्थापित करके भगवान् कृष्ण की रास-लीला सम्बन्धी प्रचलित गुंफित भावनाओं को स्पष्ट करने का सराहनीय प्रयत्न किया गया है। शताब्दियों से चली आई विचार धारा को इस प्रकार पलटने में और उससे बिलकुल विपरीत विचार-धारा के प्रचार करने मे केवल कुशल कलाकार ही सफल हो सकता है और 'कृष्णायन' के यशस्वी कवि कुशल कलाकार हैं, इसमें संशय नहीं रहता।

उपयुक्त शब्द एवं प्रसंगानुकूल शब्द-स्थापन

उपर्युक्त पद्य में कृष्ण के अन्य नाम 'कान्ह' 'कन्हाई' 'पुण्डरी-काक्ष,' 'घनश्याम' 'माधव' और 'व्रजनाथ' सार्थक एवं सोद्देश्य प्रतीत होते हैं, क्योंकि वे प्रसंगानुकूल हैं। यहीं महाभारत युद्ध में अर्जुन के सारथी के रूप में 'कान्ह' और 'कन्हाई' का प्रयोग किया जाता तो अनौचित्य खटकता और इसीलिए कविवर रत्नाकरजी के 'वीराष्टक' के श्रीकृष्ण दूतत्व के निम्नलिखित कवित्त में शब्द 'कान्ह' अनुचित प्रतीत होता है:—

पाँचजन्य गूँजत सुनान सब कान लग्यौ,
दस हूँ दिसानि चक्र चक्रित लखायौ है।

कहै रतनाकर दिवारनि में, द्वारनि मे,
काल सौ कराल कान्ह रूप दरसायौ है।।
मंत्र षडयंत्र के स्वतंत्र ह्वै पराने दूरि,
कौरव सभा में कोऊ होंठ ना हलायो है।
सक सौं सिमिटि चित्र अंक से भए हैं सबै,
बंक अरि उर पै अतंक भूमि छायो है।।

जो शब्द 'कान्ह' 'उद्धव शतक' एवं 'शृङ्गार लहरी' में चित्ता-कर्षक एवं प्यारा प्रतीत होता है, वही शब्द 'कान्ह', प्रसङ्ग के प्रतिकूल होने के कारण, कौरव सभा में वीर-रस के विषय के वर्णन मे रस में व्याघात पहुँचाता है। शब्द "कान्ह" नन्द-यशोदा के बालकृष्ण अथवा गोपियों के स्नेह-पात्र, ब्रजभूमि की रासलीला के कृष्ण की याद दिलाता है। पांडवों के राजदूत बनकर कौरव सभा मे संधि अथवा युद्ध की ललकार देने वाले राजनीतिज्ञ कृष्ण का उससे कोई संपर्क नहीं है। 'कान्ह' शब्द पढते ही 'उद्धवशतक' की निम्नलिखित स्नेह सिक्त मनोरम पंक्तियाँ बरबस याद आ जाती हैं,—

रहते अदेख नाहि वेष वह देखत हूँ,
देखत हमारी जान मोर पखियानि तैं।
ऊधौ ब्रह्म—ज्ञान कौ बखान करते ना नैंकु,
देख लेते कान्ह जो हमारी अँखियानि तैं।।

गोपियों का प्रेम, वियोग, दुःख से उत्पन्न, भक्ति की एक अविरल धारा है। तभी 'उद्धवशतक' की गोपियाँ उद्धव से कहती हैं—

अंडे लौं टिटेहरी के जै है जू बिबेक बहि,
फेरि लहिबे की ताके तनक न राह है।
यह वह सिंधु नाहिं सोखि जो अगस्त लियौ,
ऊधौ यह गोपिनि के प्रेम को प्रवाह है।।

यहाँ गोपियों के अबाध गति से बहते हुए प्रेम के स्रोत की तुलना उस समुद्र से की गई है जिसको अगस्त्य मुनि ने सोख लिया था। आखिर वह सिन्धु कैसा जिसे एक मनुष्य ने सुखा दिया? यहाँ समुद्र के पूर्व (पौराणिक) इतिहास से सहायता ली गई है और सिन्धु की शक्तिहीनता दिखाई गई है। किन्तु सिन्धु के इतिहास के साथ साथ यदि अगस्त्य मुनि के जन्म के इतिहास से सहायता ली जाती तो यही शक्ति-हीनता और भी अधिक दिखाई देती। गोस्वामीजी ने ऐसा अवसर हाथ से नहीं जाने दिया—यथा.—

कहँ कुंभज कहँ सिंधु अपारा
सोखेउ सुजस सकल समारा

अगस्त्य मुनि का जन्म घडा (कुम्भ) से हुआ था और 'अगस्त्य' का पर्याय 'घटज' अथवा 'कुंभज' भी है। अगस्त्य मुनि ने अपार सिन्धु को सोख लिया, यह एक आश्चर्यमयी घटना अवश्य थी किन्तु जब हम सुनते हैं कि एक घड़े मे जन्म लेने वाले ने समुद्र सोख लिया था तो यही आश्चर्य और भी सौ गुना बढ जाता है। गागर में पैदा होने वाले ने सागर सुखा दिया!! 'गागर में सागर' के विरोधाभास की तीव्रता अधिक बढ़ कर जो भाव कवि व्यक्त करना चाहता है तुरन्त हृदयङ्गम हो जाता है। शब्दों की व्युत्पत्ति पर ही ध्यान देना आवश्यक नहीं है, प्रत्युत् प्रसगानुकूल उपयुक्त पर्याय खोजने के लिए पौराणिक इतिहास जानना भी आवश्यक हो जाता है। किसी वियोग दु:ख से पीड़ित नायिका के लिए चन्द्रमा की चाँदनी दु:खदायी होती है, यह एक साधारण भाव है, किन्तु इस भाव को पाठक के हृदय मे पहुँचाने के लिए, चन्द्रमा के जन्म का इतिहास बताकर और भी रोचक ढग से व्यक्त किया जा सकता है। इसीलिए जब पद्माकर' चन्द्रमा से कहते हैं कि "तुम सिन्धु के सपूत हो, सिन्धु तनया (लक्ष्मी) के बन्धु हो गिरीश के शीश पर विराजमान हो, फिर भी अपनी चाँदनी से

एक वियोगिनी के शरीर को जलाये देते हो, क्या तुम्हें लज्जा का बोध नहीं होता ?" तो कवित्त के अन्तिम चरण—

ऐरे मतिमन्द चन्द आवत न तोहि लाज ह्वै कै
द्विजराज काज करत कसाई के ॥

अत्यन्त प्रभावोत्पादक हो जाता है और चन्द्रमा का पर्याय "द्विजराज" कवि के भाव को और भी तीव्र कर देता है।

मत्स्य पुराण के अनुसार चन्द्र के उदय होने पर समुद्र उदित अर्थात् स्फीत और चन्द्र के अस्त होने पर समुद्र क्षीण होता है। जलराशि का इस प्रकार 'समुद्रेक' होने के कारण सिन्धु का नाम 'समुद्र' पड़ा। समुद्र और चन्द्रमा का यह सम्बन्ध संसार की सारी भाषाओं में किसी न किसी रूप में वर्णित हुआ है। समुद्र-मंथन से जहाँ अमृत, लक्ष्मी, और चन्द्रमा निकले वहाँ बहुत से रत्न भी निकले थे। इसीलिए समुद्र को 'रत्नाकर' कहते हैं। चन्द्रमा को भी 'सुधाकर', 'सुधाधार', सुधांशु, 'सुधावास', 'सुधासूति' कहा जाता है। किन्तु किस समय चन्द्रमा को 'निशानाथ' कहा जायगा और किस समय 'सुधाकर' कहा जायगा यह प्रसग के ऊपर निर्भर रहेगा। इसी प्रकार किस समय समुद्र को 'जलधि', 'उदधि' 'पायोधि', 'अम्बुधि', 'सागर' कहा जायगा, किस समय 'जल-निधि', पयोनिधि' कहा जायगा और किस समय 'रत्नाकर' कहा जायगा यह भी प्रसंग के ऊपर निर्भर होगा। खारे पानी के समुद्र को 'लवण सागर' कहना उपयुक्त होगा किन्तु 'लवण पयोनिधि' अथवा 'लवण रत्नाकर' कहने में अनौचित्य खटकेगा। इसी तरह संसार रूपी दु ख से भरे हुए सागर को 'भववारिधि' कहना तो ठीक रहेगा, मगर 'भव-रतनाकर' कोई नहीं कहेगा। मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्तियों में प्रेम का स्थान बहुत ऊँचा है। काव्य में इसका अक्षय भण्डार है। प्रणय में अनेक कोमल भावनाओं का संचार होता है अत' 'प्रेम-सागर' के स्थान में 'प्रेम-पयोनिधि'

अथवा 'प्रेम-रत्नाकर' अधिक उपयुक्त प्रतीत होगा। इसीलिए "प्रेम पयोनिधि में फँसि कें हँसि कें कढिवो हँसी खेल नहीं है" में 'प्रेम पयोनिधि' सोद्देश्य है। 'उद्धवशतक' में.—

प्रेम-रतनाकर गँभीर परे मीननि कौं
इहि भव-गोपद की भीति भरिवौ कहा

में 'प्रेम-रत्नाकर' उचित एवं सार्थक है। इसी प्रकार—

राधा-मुख-मंजुल-सुधाकर के ध्यान ही सौं
प्रेम-रतनाकर हियैं यों उमगत है।

में शब्द 'रतनाकर' और 'सुधाकर' दोनों सार्थक ही नहीं है, प्रत्युत चन्द्र के उदित होने पर समुद्र के स्फीत होने के तथ्य का आधार लेने के कारण कवित्त का लालित्य इन दोनों शब्दों के कारण अधिक बढ़ गया है। कभी-कभी एक शब्द के स्थान में दूसरा शब्द रख देने से भाषा में लालित्य अत्यधिक बढ जाता है—इसका एक अन्य उदाहरण बंगीय कविवर नवीनचन्द्र सेन के 'पलाशिर युद्ध' नामक काव्य के हिन्दी पद्यानुवाद से देना अनुचित न होगा। नवीन बाबू की सायंकाल-वर्णन विषयक उत्कृष्ट पंक्तियाँ इस प्रकार हैं—

शोभि छे एकटि रवि पश्चिम गगने
भासि छे सहस्र रवि जाह्नवी जीवने

श्री मैथिलीशरणजी गुप्त ने इसका अनुवाद पहिले इस प्रकार किया—

शोभित है रवि रम्य एक पश्चिमी गगन में
झलक रहे रवि अयुत जाह्नवी के जीवन में

इसमें संशय नहीं कि यह मूल का शुद्ध और सही अनुवाद

था—किन्तु बाद में कुछ दूसरे शब्द लाकर अनुवाद इस प्रकार कर दिया:—

> शोभित दिनमणि एक प्रतीची के अञ्चल मे
> सौ सौ दिनमणि-झलक रहे हैं गगाजल में

'रवि' के स्थान में 'दिनमणि' अत्यन्त चित्ताकर्षक शब्द है। संध्याकाल का सूर्य वास्तव मे 'प्रतीची के अचल' में 'दिनमणि' सदृश ही प्रतीत होता है और गंगा के चंचल जल में उसकी छाया पड़ते ही सौ सौ दिनमणि जल में झलकते दिखाई पड़ते हैं। शब्दों के थोडे से हेर-फेर के कारण यहाँ पद्यानुवाद, मूल की तुलना में, कहीं अधिक ललित एव चित्ताकर्षक हो गया है। मूल से अनुवाद, भाव मे भी, कहीं ऊँचा बढ गया है। प्रियप्रवास' का प्रारंभ ही वृक्ष की चोटी पर पड़ती सध्याकालीन सूर्य की प्रभा के वर्णन से होता है, यथा·—

> दिवस का अवसान समीप था
> गगन था कुछ लोहित हो चला
> तरु शिखा पर थी अब राजती
> कमलिनी कुल वल्लभ की प्रभा

कमल और कमलिनी दोनों सूर्य के प्रकाश में ही खिलते हैं। सूर्योदय क्रिया शक्ति का द्योतक है और सूर्यास्त शक्ति की क्षीणता के प्रारम्भ का प्रतीक है। ढलते सूर्य की कोमल किरणों का भाव पाठक के हृदय मे पहुँचाने के लिए यहाँ स्त्रीलिंग 'कमलिनी' प्रयुक्त करके सूर्य के लिए "कमलिनी कुल वल्लभ" लिख कर भाषा अधिक मनोरम बनादी गई है।

स्त्रीलिंग 'कमलिनी' के साथ शब्द 'वल्लभ' भी सोद्देश्य है। सूर्य भगवान् और कमलिनी के अलौकिक प्रेम-व्यापार का वर्णन संस्कृत काव्य मे बहुत आया है। मेघदूत में कालिदास ने यक्ष के मुख से

कहलाया है कि "हे मेघ ! उज्जैन से प्रात काल शीघ्र ही प्रस्थान करके चल देना। भगवान सूर्य का मार्ग मत रोकना नहीं तो वे तुझ पर कुपित होंगे। क्योंकि वे रात्रि अन्य स्थल मे बिताकर अपनी रूठी हुई प्रिया पद्मिनी को मनाने की जल्दी मे होंगे और उसे मनाते हुए, अपने किरण रूपी हाथो से उसके आँसू (ओस-कण) पोंछेगे।" यहाँ आँसू पोंछने का व्यापार इसलिए दिखाया गया है क्योंकि अश्रु कण हटते ही पद्मिनी खिलने लगती है। प्रेमी के मनाने के अनन्तर प्रिया का मुसकराना (खिलना) स्वाभाविक है। किन्तु यह सूक्ष्म-निरीक्षण समझ न सकने के कारण आधुनिक कविता में कविगण सूर्य की किरणों द्वारा साधारण फूलों के ही अश्रु कण (ओसकण) पोंछे जाने का वर्णन करने लगे हैं जिसमें कोई चमत्कार नहीं आ पाता (पुस्तक का पृष्ठ १४ देखिए)। यदि फूलों के स्थान में 'कलियों' के आँसू पोंछे जायें तो भी कुछ गनीमत हो। उपर्युक्त शब्दों द्वारा ही कवि पाठकों का ध्यान अपनी रचना के प्रति आकर्षित कर सकता है और सोद्देश्य एवं समीचीन शब्दों द्वारा ही कवि की अभिव्यक्ति भी अधिक प्रभावोत्पादक हो सकती है।

प्रसङ्गानुकूल शब्द-स्थापन के सम्बन्ध में श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' की 'गीतिका' के प्रथम गीत पर भी एक दृष्टि डालनी उचित होगी। इसमें देवी सरस्वती से भारतवर्ष मे नवीन क्रान्ति लाने के लिए प्रार्थना की गई है—

"वर दे, वीणावादिनि वर दे
प्रिय स्वतन्त्र रव अमृत मन्त्र नव
भारत में भर दे!
काट अन्ध-उर के बन्धन स्तर
बहा जननि, ज्योतिर्मय निर्झर,
कलुषि भेद तम हर प्रकाश भर
जगमग जग कर दे!

नवगति, नवलय, ताल छन्द नव,
नवल कण्ठ, नव जलद-मन्द्र रव,
नव नभ के नव विहग वृन्द को
नव पर, नव स्वर दे।"

यहाँ 'सरस्वती' के पर्यायवाची शब्दों में 'ब्राह्मी', 'भारती', 'गीष्', 'वाग्', 'वाणी', 'ईश्वरी', 'वाग्देवी', 'वागेश्वरी', 'गिरादेवी', 'वर्णमातृका' आदि शब्दों को छोड करके "वीणावादिनि" शब्द प्रयुक्त किया गया है। सरस्वती 'वीणाधारिणी' है और सङ्गीत के समय भी सरस्वती की पूजा की जाती है। नवीन लय, नवीन ताल, नवीन गीत, नवीन कण्ठ और नवीन स्वर प्रदान करने के लिए "वीणावादिनि" की प्रार्थना समीचीन प्रतीत होती है। किन्तु "अन्ध उर के बन्धन-स्तर" काटने की शक्ति वीणा बजानेवाली देवी में नहीं होगी और न कलुष-भेद-तम को हर कर, ज्योतिर्मय निर्झर बहा कर, जग को जग-मग कर देने की शक्ति 'वीणावादिनि' में हो सकती है। 'वीणावादिनि, शब्द से शुक्लवर्णा, श्रुति और शास्त्रों में श्रेष्ठा, पंडितों की जननी, शुद्धस्तत्त्वस्वरूपा, वागधिष्ठात्री देवी सरस्वती के समस्त गुणों का आभास नहीं मिल पाता, अतएव यदि अन्धकार को हटाकर ज्योतिर्मय निर्झर बहाने की भावना को हृदय में बिठाना अभीष्ट था तो 'वीणावादिनि' के स्थान में कुन्द के फूल, चन्द्रमा और तुषार के समान श्वेत, शुभ्रांबरधारिणी, वीणापुस्तक-धारिणी, "जाड्यान्धकारापहाम" बुद्धि प्रदान करने वाली, देवी 'शारदा' का नाम ही लेना उचित होता। 'शारदा' का नाम सुनते ही हृदय में दिव्य रूपा, चारुहासिनी, श्वेतसरोजवासिनी उस शक्ति का एकाएक आभास होने लगता है जो बुद्धि, विद्या और ज्ञान के द्वारा संसार के अन्धकार को हटाया करती है। कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द 'वीणावादिनि' जहाँ नवगति, नवलय, ताल छन्द-नव के लिए सार्थक एवं सोद्देश्य है वहाँ जग को जगमग करने के लिए निरर्थक प्रतीत होता है। शब्द पढ़ कर उसके अनन्तर ही

आने वाले भाव का वह सूचक नहीं है। 'वीणा' में किसी ऐसी श्वेत वस्तु का भी अभाव है जो घने अन्धकार में प्रकाश कर सकती हो।

भगवान् कृष्ण का श्याम रङ्ग होने पर भी, उनके चरणों के प्रताप से जगत का अन्धकार हटने का वैभव जब-जब सूरदास ने गाया है तब-तब उनके चरण-नख-चन्द्र की छटा की ही दुहाई दी है। यथा—

> "भरोसो दृढ इन चरननि केरो ।
> श्री वल्लभ नख चन्द्र छटा बिनु सब जग माझि अंधेरो ।"

इसी प्रकार श्रीकृष्णदास के पद का यह चरण प्रसिद्ध है—

> "हृदय कृष्णदास गिरवरधरणलाल की,
> चरण नख चन्द्रिका हरति तिमिरावली ।"

करोड़ों चन्द्रों की शोभा से युक्त शारदा को यदि 'वीणावादिनि' में परिवर्तित कर दिया जाय तो जग को जगमग करने के लिए 'नखचन्द्र' की शोभा का वर्णन करना अनुपयुक्त न होता। क्योंकि केवल 'वीणावादिनि' शब्द से आगे आने वाले भाव अथवा भावना का उससे कोई सम्पर्क नहीं है। उस भाव का यह किंचित् मात्र भी द्योतक नहीं है। अवश्य इस गीत के प्रथम और अन्तिम भाग में एक सुन्दर सामञ्जस्य है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। अन्त में गीत प्रभावशील भी हो गया है। आकाश में बहुत ऊपर उड़ते हुए स्वच्छन्द पक्षिओं के गान से ही प्रेरित होकर मानवीय संगीत का प्रादुर्भाव होना माना जाता है। और इसीलिए "नव नभ के नव विहग वृन्द" को 'नव पर' एवं 'नव-स्वर' की माँग भावना को तीव्रतर करने में सहायक होती है।

शब्द की अभिधा और व्यंजना शक्तियों में वृद्धि करके किस प्रकार कवि अपने उपस्थापित अर्थ को अधिक चमत्कार पूर्ण-एवं

अधिक रमणीय बना सकता है, इसके कुछ उदाहरण हमने ऊपर बतलाए हैं। अनेकानेक अन्य उदाहरण और भी दिए जा सकते है। वास्तव में, शब्दों मे, असख्य परम्परागत एव व्यक्तिगत संसर्ग और सम्पर्कों के भण्डार निहित हैं। कवि शब्द-तूलिका द्वारा ही अपने मन के भावों को पाठक के हृदय में ठीक-ठीक अंकित किया करता है। कभी-कभी एक शब्द को पढ़ते ही नए-नए भावों की स्मृति जाग उठती है और उसको सुनने पर उसकी प्रतिध्वनि बड़ी देर तक कानों में गूँजती रहती है। वीणा के एक तार को छूने पर जैसे कभी कभी सपूर्ण वाद्य झनझना उठता है, उसी प्रकार छन्द या रचना का एक ही शब्द सारे हृदय में स्पन्दन कर देता है। कुशल कलाकार का भाषा पर पूर्ण अधिकार होना अनिवार्य है और सजीव कविता के लिए शब्द-स्थापन एव शब्द चयन के सतत अभ्यास की भी आवश्यकता है। ऐसा अभ्यास होने पर कुशल कलाकार के हाथों में शब्द गिरगिट की तरह रंग भी बदला करते हैं और योग्य कवि उन्हीं शब्दों को नए-नए प्रसंगों में लाकर उनमें नवीन स्फूर्ति एवं नवीन चैतन्य प्रदान करके नए प्रकार से जीवन-संचार किया करते है।

छन्द का अन्तिम चरण

किसी भी रचना में प्रत्येक छन्द अथवा छन्द का प्रत्येक चरण महत्वपूर्ण है। रचना से उसके मध्य में आया हुआ कोई छन्द पृथक् प्रतीत नहीं होना चाहिये। ऐसा मालूम होना चाहिये कि छन्द का उस रचना में, उचित रूप से समावेश हुआ है। कविता को जब सहृदय पाठक पढ़ता है तो उसे आदि और अन्त पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। जो कविता आदि और अन्त में विरस है अथवा, आदि में मध्यम, अन्त में विरस; आदि में सरस अन्त में विरस होती है उसको दुबारा पढने की इच्छा नहीं होती। वह चित्ताकर्षक नहीं हो सकती। ऐसी कविता हमारे साहित्य-शास्त्र

में सर्वथा त्याज्य मानी गई है। हमारे यहाँ केवल वही रचना सुन्दर मानी गई है जो भले ही आदि में विरस हो अथवा मध्यम हो किन्तु अन्त मे सरस हो। यदि आदि और अन्त दोनों मे सरस हो तो कहना ही क्या है। दूसरे शब्दों मे हम इस प्रकार कह सकते हैं कि कविता का मूल्याङ्कन अधिकतर उसके अन्तिम भाग पर निर्भर रहता है। अवश्य, सम्पूर्ण कविता में सामजस्य प्रतीत होना चाहिए।

जो बात सम्पूर्ण कविता के लिए आवश्यक है वही बात प्रत्येक छन्द के लिए भी आवश्यक है। जो छन्द केवल सिलसिला मिलाने के लिए, प्रबन्ध-निर्वाह के लिए, लिखे जाते हैं, उनकी बात दूसरी है। किन्तु जिन छन्दों मे कवि अपने विचार व्यक्त करता है अथवा जहाँ कवि की निजी अनुभूति की अभिव्यक्ति होती है उन छन्दों मे, चाहे वे तुकान्त हों अथवा अतुकान्त, अंतिम चरण पर विशेष ध्यान देना चाहिए। सारे छन्द मे भाषा-प्रवाह अबाध होना चाहिए किन्तु पूर्व चरण की अपेक्षा अन्तिम चरण की भाषा अधिक सुगठित होनी चाहिए। कम से कम इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि अन्तिम चरण की भाषा पूर्व चरणों की अपेक्षा दुर्बल तो नहीं हो गई। जहाँ प्रथम चरण मे भाषा सशक्त होती है और अन्तिम चरण मे निर्बल होती है वहाँ सारा छन्द पढकर पाठक को ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे ऊँचे चढने का विचार करके चढाई शुरू की किन्तु एक गड्ढे में सहसा आ गिरे। जहाँ अन्तिम चरण सशक्त भाषा में होता है और जहाँ प्रमुख वाक्य भी उसमे दिया जाता है वहाँ सारा छन्द पढ लेने के अनन्तर बडी देर तक छन्द का भाव हृदय सागर मे लहरें लेता रहता है।

यह कहना ठीक नहीं है कि रीति काली मे छन्द के अन्तिम चरण पर ध्यान देना उचित था किन्तु इस स्वच्छन्द युग में इसका महत्त्व जाता रहा है। इस युग में कवि का उद्देश्य कुछ बदल तो नहीं गया। इस युग में, अपनी रचना लिख कर कवि सन्दूक

या आल्मारी में तो बन्द नहीं कर देता। उसकी इच्छा यही रहती है कि उसके भाव पाठक के हृदय में भी पहुँच जायँ। अतएव कवि के संवेद्य को सफल बनाने के लिए छन्द के अन्तिम चरण का महत्व आज भी पूर्ववत् ही बना हुआ है। प्रधान वाक्य अन्त में ही देने की परिपाटी हमारे पुराने साहित्य में पाई जाती है जो उचित प्रतीत होती है। 'देव' कवि के अनेकानेक सुन्दर छन्द उदाहरण रूप मे उद्धृत किए जा सकते हैं। एक कवित्त में विरह-निवेदन में सखी मर्मस्पर्शी शब्दों में वह दशा बताती है जो अधिक रोदन से वियोगिनी की आँखों की हो गई है। प्रथम तीन चरणों में बाघंबर, गूदड़ी, गेरुआ वस्त्र, जल, धूम्र, अग्नि, स्फटिकमाला, और सेल्ही का वर्णन है किन्तु अन्तिम चरण तक यह पता नहीं चलता कि कवि आखिर कहना क्या चाहता है। अन्त मे जब कवि कहता है:—

दीजिए दरस देव, कीजिए सजोगिनि ये,
जोगिनि ह्वै बैठी हैं, वियोगिनि की अँखियाँ

तब पता चलता है कि वियोगिनी की आँखों को (स्वयं वियोगिनि को नही) योगिनी के रूप में दिखाया गया है। कवि की उत्कृष्ट कल्पना का तभी आनन्द मिल पाता है। यदि प्रारम्भ में ही यह बतला दिया जाता तो उतना आनन्द नहीं आ पाता। 'रसिक बिहारी' का एक कवित्त यहाँ उद्धृत करना समीचीन प्रतीत होता है:—

आपुहि तें सूरी चढि जैबो है सहज घनो
सोऊ अति सहज सती को तन दाहिवो
सीस पै सुमेरु धरि धायबो सहज अरु
सहज लगे है बहु सातो सिन्धु थाहिवो
सहज बड़ो है प्रीति करिबो बिचारो जीय
सहज दिखात चित्त दो दिन को चाहिबो
'रसिक बिहारी' यही सहज नहीं है मीत
एक सों सदा ही सॉने नेह को निबाहिबो

एक से सदा सच्चे स्नेह का निर्वाह करना अत्यन्त कठिन है। इस प्रमुख भाव ने कवित्त में जान डाल दी है। पूर्व तीन चरणों मे तो साधारण भाव हैं।

वास्तव मे, जिस छन्द अथवा कवित्त मे, यह जानने की उत्कंठा कि अन्तिम चरण में क्या है पाठक को नहीं हो पाती, अथवा यह उत्कण्ठा निरन्तर तीव्र होती नहीं चली जाती और अन्तिम चरण प्रभावशील नहीं हो जाता वहाँ कवित्त या छन्द पढ़ने में कोई आनन्द नहीं आता। इस सम्बन्ध में, 'साकेत' के एकादश सर्ग से, अयोध्या मे हनुमानजी का आकाश में लङ्का की ओर उड़ने का वर्णन करने वाले कवित्त पर एक दृष्टि डालनी उचित होगी।

> "खींचकर श्वास आस पास से प्रयास बिना,
> सीधा उठा शूर हुआ तिरछा गगन मे।
> अग्निशिखा ऊँची भी नहीं है निराधार कहीं,
> वैसा सार-वेग कब पाया साध्य घन में॥
> भूपर से ऊपर गया यों वानरेन्द्र मानों,
> एक नया भद्र भौम जाता था लगन में।
> प्रकट सजीव चित्र सा था शून्य पट पर
> दण्ड हीन केतन दया के निकेतन में।"

इस कवित्त मे जो प्रभाव प्रथम चरण में है वह प्रभाव धीरे-धीरे कम होता चला गया है और अन्तिम चरण की भाषा एकदम प्रभाव-हीन हो गई है। कवित्त पढ़ने को जी नहीं चाहता, श्वास खींच कर जिस तेजी से हनुमानजी ऊपर आकाश मे चढ़े बताए गए हैं वह तेजी धीरे-धीरे कम होकर "दण्ड-हीन केतन दया के निकेतन में" सहसा समाप्त हो गई। वास्तव में, इस कवित्त के अन्तिम चरण के स्थान मे प्रधान वाक्य प्रारम्भ मे ही दे दिया गया है—

'दिनकर' के कुरुक्षेत्र' के पंचम सर्ग में एक छन्द है—

"दुनिया तज देती न क्यों उन को
लड़ने लगते जब दो अभिमानी ?
मिटने दे उन्हें जग आपस में
जिन लोगों ने है मिटने की ही ठानी,
कुछ सोचे विचारे बिना रण मे
निज रक्त बहा सकता नर दानी,
पर, हाय, तटस्थ हो डाल नहीं
सकता वह युद्ध की आग मे पानी।"

प्रथम चरण मे जो बात कही गई है उसमें तथ्य है। दो चरणों को पढने पर पाठक की उत्कण्ठा अधिक जानकारी के लिए तीव्र हो उठती है, आशा यह होती है कि कवि कोई नवीन मौलिक बात अन्तिम चरण में बतायेगा परन्तु अंतिम दो चरणों में मौलिकता तो क्या गम्भीर चिन्तन का भी अभाव देखकर अत्यन्त निराशा होती है। कवि का भाव सही है कि दो अभिमानी ही लड़ते है, उनके मिट जाने मे हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। किन्तु यह कहना सही नहीं है कि दानी नर बिना सोचे विचारे रक्त बहा देता है। वास्तव मे, युद्ध का प्रारम्भ बहुत सोच विचार कर ही किया जाता है। युद्ध का बीज आर्थिक वैषम्य से उत्पन्न साम्राज्यवाद एवं स्वार्थी एवं लोलुप सत्ताओं के पारस्परिक वैमनस्य मे ही निहित है। जब स्वार्थी दलों के दाव पेच अधिक नहीं चल सकते और जब किसी भी प्रकार समझौता नहीं हो सकता—जब सभी उपाय व्यर्थ हो जाते है तभी युद्ध आरम्भ होता है। यह युद्ध दो शक्तिशाली दलों में होता है। शक्तिहीन तो युद्ध छेड ही क्या सकता है ? फिर शक्ति हीन तटस्थ होकर भी समझौता नहीं करा सकता क्योंकि शक्तिशाली पर शक्तिहीन का प्रभाव ही क्या हो सकता है ? 'दानी' शब्द यहाँ निरर्थक ही नहीं अर्थ मे व्याघात भी पहुँचाता है। और जहाँ यह पहिले इच्छा प्रकट कर दी गई हो कि 'जो लोग मर मिटना चाहते हैं उन्हें मर मिटने दो' तो इस बात पर अन्तिम चरण

में खेद प्रकट करना छन्द के वातावरण के प्रतिकूल भी हो जाता है कि 'दानीनर' युद्ध की आग में पानी नहीं डाल सकता। वास्तव में दोनों अन्तिम चरणों में भाषा भाव शून्य एवं प्रभावहीन हो गई है।

'कुरुक्षेत्र' के तृतीय सर्ग में एक कवित्त इस प्रकार है'—

"जिनकी भुजाओं की शिराएँ फड़कीं ही नहीं,
जिनके लहू में नहीं वेग है अनल का।
शिव का पदोदक ही पेय जिनका है रहा,
चक्खा ही जिन्होंने नहीं स्वाद हलाहल का।।
जिनके हृदय मे कभी आग सुलगी ही नहीं,
ठेस लगते ही अहंकार नहीं छलका।
जिनको सहारा नहीं भुज के प्रताप का है,
बैठते भरोसा किए वे ही आत्म बल का।"

प्रथम चरण मे जिस ओजस्वी भाषा से कवित्त प्रारम्भ होता है वह भाषा अन्त मे आकर बिलकुल प्रभावहीन हो जाती है। द्वितीय चरण की भाषा तो अत्यन्त शिथिल भी है। हलाहल तो भगवान शिव के अतिरिक्त किसी ने पिया नहीं, किन्तु शिव का पदोदक इतना निकृष्ट एव क्लीव बनाने वाला नहीं है जितना कवि ने समझा है। इसके लिए भी बडे संयम नियम, योगाभ्यास की आवश्यकता होती है अतएव सुलभ मार्ग का तो यह प्रतीक नहीं है और 'अहंकार' शायद तरल पदार्थ होता होगा जो छलकता रहता होगा।

सप्तमसर्ग में आए हुए एक कवित्त पर भी दृष्टि डालनी अनुचित न होगी—

"रण रोकना है तो उखाड़ विषदन्त फेंको,
वृक व्याघ्र नीति से मही को मुक्त कर दो।
अथवा अजा के छागलों को भी बनाओ व्याघ्र,
दांतों मे कराल काल कूट विष भर दो।।
वट की विशालता के नीचे जो अनेक वृक्ष,
ठिठुर रहे हैं उन्हें फैलने का वर दो।

रस सोखत है जो मही का भीमकाय वृक्ष
उसकी शिराएँ तोड़ो, डालियाँ कतर दो ।'

इस कवित्त में कवि का भाव अवश्य यह है कि शक्तिहीन को शक्ति दी जानी चाहिए अथवा शक्तिशाली की शक्ति का अपहरण होना चाहिए किन्तु भाषा में यह भाव समुचित रूप से व्यक्त नहीं हो पाया और अन्तिम चरण मे भाषा ही लचर हो गई है। प्रकृति में जो वैषम्य पाया जाता है उसको हटाने की सामर्थ मनुष्य मे तो नहीं है। छागलों को व्याघ्र बना देना मनुष्य की सामर्थ के बाहर है। किन्तु प्रयत्न द्वारा, 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के पारस्परिक प्रेम और अहिंसा सिद्धान्त के प्रचार द्वारा मनुष्य मानव-जगत को सुखी बना कर आर्थिक वैषम्य और साम्राज्यवाद का अन्त कर सकता है। इसीलिए प्रकृति में पाए जाने वाले वैषम्य और आर्थिक वैषम्य के महान् अन्तर पर ध्यान रखना आवश्यक है। आर्थिक वैषम्य का आधार प्रकृति में पाए जाने वाला वैषम्य कभी नहीं हो सकता और न आर्थिक वैषम्य को हटाने के समय प्रकृति के अन्तर्गत वैषम्य हटाने की बात ही करना समीचीन है। फिर, व्याघ्र के दाँतों से अधिक शक्ति उसके पंजों मे होती है। व्याघ्र के दाँत लगा देने से छागलों में व्याघ्र की शक्ति तो नहीं आ जायगी। 'छागलों के दाँत विष-दन्त कर दिए जावें" यह एक बात है, 'छागलों के दाँतों में विप भर दिया जाय' यह दूसरी बात है। एक दूसरे मे बड़ा अन्तर है। कवि ने इस भेद को ध्यान में न रखकर दाँतों में विष भर देने की ही बात कही है। बकरी के बच्चों के दाँतों में जहर भर देने से वह कितने दिन जीवित रह सकेंगे? क्या उनकी मृत्यु नहीं हो जायगी? कवि ने 'विष-दन्त' को संभवत: शक्ति का प्रतीक मान लिया है। किन्तु यह उचित नहीं है। 'विप-दन्त' क्रूरता एवं कुटिल नीति का ही प्रतीक हो सकता है, शक्ति का नहीं। इसीलिए जब भीष्म के मुख द्वारा कहलाया जाता है कि—

क्षमा शोभती उस भुजङ्ग को, जिसके पास गरल हो,
उसको क्या जो दन्तहीन, विषरहित, विनीत, सरल हो

तब भी 'गरल' शक्ति का प्रतीक मान लेने के कारण छन्द में असावधानी दृष्टिगोचर होती है। क्षमा शक्तिशाली का भूषण है, 'भुजङ्ग' का नहीं। भुजङ्ग शब्द से ही क्षमा के अभाव का आभास होता है। जो विष-रहित, विनीत, और सरल हो और जिसके हृदय मे क्षमा भी हो उसे कौन 'भुजङ्ग' कहेगा ? 'भुजङ्गता' और सरलता एक दूसरे के विरोधी हैं। वास्तव में, कवि ने 'शक्ति' और 'विषैलेपन' के भेद को दृष्टि में नहीं रखा।

शब्द 'विशाल' अच्छे भाव में (महानता के भाव में) प्रयुक्त किया जाता है। वट की 'विशालता' से बड के नीचे की सुखद घनी छाया का भाव हृदय में अङ्कित होता है, उस विशाल वट वृक्ष के नीचे कोई वृक्ष उगा नहीं करता। यह लिखना कि उसके नीचे अनेक वृक्ष ठिठुर रहे हैं निरीक्षण की कमी बताता है। वट की विशालता न तो व्याघ्र का विष-दन्त हो सकती है और न पूँजीवाद अथवा साम्राज्यवाद का जजाल हो सकती है जिसके लिए शिराएँ तोड़ने अथवा डालियाँ कतरने की आवश्यकता प्रतीत होती हो। फिर जब तक किसी भीमकाय वृक्ष की जड़ों पर ही आघात नहीं किया जाय तब तक वह पृथ्वी का रस सोखना कैसे बन्द करेगा ? क्या डालियाँ कतरने या शिराएँ तोडने से काम चल जायगा ? अन्तिम चरण में आते आते भाषा अत्यन्त शिथिल हो चुकी है और भाव-शून्य भी हो गई है।

भीष्म के मुँह से कहलवाए गए निम्नलिखित शब्दों का क्या अर्थ हो सकता है, हमारी समझ मे नहीं आ पाया—

"धर्म है हुताशन का धधक उठे तुरन्त,
कोई क्यों प्रचण्ड वेग वायु को बुलाता है ?
फूटेगा कराल कण्ठ ज्वालामुखियों का ध्रुव,
आनन पर बैठ विश्व धूम क्यों मचाता है ?

'फूँक से जलाएगा अवश्य जगती को व्याल,
कोई क्यों खरोंच मार उसको जगाता है ?
विद्युत खगोल से अवश्य ही गिरेगी, कोई
दीप्त अभिमान को क्यों ठोकर लगाता है ?"

अग्नि का कर्त्तव्य जलना अवश्य है किन्तु "तुरन्त धधक उठना" तो नहीं है। सारे ज्वालामुखियों के कराल कण्ठ के फूटने का भी कोई निश्चित क्रम नहीं है—बहुत से बरसों क्या सौ-सौ वर्षों तक सोते अथवा शान्त पड़े रहते हैं। जगती को व्याल अवश्य जला ही डालेगा अथवा आकाश से बिजली अवश्य ही गिरेगी—ऐसा भी कहीं निश्चित तो नहीं है, फिर भी ऐसा निश्चित समझ कर कवि ने जो प्रश्न किए हैं वे असम्बन्धित एवं निरर्थक ही प्रतीत होते हैं।

जो भाव बड़े कवित्तों में नहीं आ पाया वही भाव छोटे छन्दों में 'अशोक' में यत्रतत्र पढ़ने को मिल जाता है.—

आक्रमण एक कर सके
एक को रक्षा का अधिकार नहीं
जब तक है यह अन्याय
चैन पा सकता है संसार नहीं
जब तक चलता अन्याय, चले
इठलाए हिंसा की बामी
आक्रमण-दन्त को तोड़ेंगे
मानवता के जीवन-कामी
कब तक ठग सकते व्याघ्र सीख
कर प्रेमी हरिणों की भाषा ?
आलोक सत्य का जागेगा
लेकर मानवता की आशा।

अन्तिम पंक्ति में मानों सब कुछ कह दिया गया। मानवता की आशा लेकर सत्य अवश्य ही संसार में उजाला कर सकेगा। यही 'कुरुक्षेत्र' के कवि का भी भाव है।

व्यक्ति के अनुरूप विचार

महाकाव्य अथवा खण्ड काव्य में पात्रों के अनुरूप भाषा ही आवश्यक नहीं है, पात्रों के अनुरूप विचार भी आवश्यक हैं। जहाँ एक शूरवीर के मुख से ऐसे विचार प्रकट किये जाते हैं जिनसे गिडगिड़ाने, रोने और सिसक सिसक कर अपने को किसी प्रकार बचाने का भाव व्यक्त करने का आभास होता है वहाँ भाव तो प्रभावित ही क्या कर सकेंगे, भाषा भी बिगड जायगी। सती साध्वी स्त्री के चित्त में कभी ये विचार नहीं आ सकते कि नयन-बाण अथवा भौंह कमान के द्वारा वह संसार जीत सकती है। ग्राम में रही हुई माता यशोदा के चित्त में कृष्ण के प्रस्थान के समय जो विचार रहे होंगे, ठीक वही विचार अयोध्या सी विशाल राजधानी के राजप्रासाद में बैठी हुई, राजमाता कौशिल्या के, राम वनवास के समय, नहीं रहे होंगे। पुत्र-प्रेम तो दोनों में उमडा होगा किन्तु कौशिल्या के समय में अधिक गाम्भीर्य रहा होगा। घर से निकाले जाते समय गाँव की एक अल्हड़ स्त्री के जो विचार हो सकते हैं वही विचार वनवास के समय सीताजी के दिखलाना अनुचित होगा। कवि को परिस्थितियों के अनुसार व्यक्तियों के हृदय में उठी हुई भावनाओं का यथार्थ चित्रण करना आवश्यक है। परिस्थिति के अनुसार किसी महान् व्यक्ति का चरित्र चित्रण करना बड़ा कठिन कार्य है। किसी ऐतिहासिक पुरुष के मुँह से यदि कोई भाव व्यक्त कराया जाय तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह सर्वमान्य इतिहास ग्रन्थों में दिखलाए गए उसके चरित्र के विरुद्ध तो नहीं है। इस सम्बन्ध में 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म पितामह के विचारों का उल्लेख करना अनुचित न होगा। जो विचार भीष्म के मुख से 'कुरुक्षेत्र' में कहलाये गये हैं वे विचार युद्ध-प्रेमी, युद्ध-वीर, स्थिर-चित्त, गम्भीर, महाबली, धनुर्धारी, पुरुषोत्तम, भीष्म पितामह के अनुरूप कदापि नहीं हैं। महाभारत का युद्ध एकमात्र दुर्योधन की व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा के लिए हुआ

था। शकुनि इत्यादि का जो पारस्परिक वैमनस्य था वह भी व्यक्तिगत ही था। आज के मशीन-युग के आर्थिक वैषम्य और साम्राज्यवाद से उत्पन्न उपनिवेश बसाने एवं नए-नए व्यापार-स्थल स्थापित करके विजेता राष्ट्र द्वारा शासित क्षेत्र के आर्थिक शोषण की नीति महाभारत काल में नहीं थी। इसीलिए 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म पितामह द्वारा दमन और शोषण के विरुद्ध जन-जीवन की क्रान्ति का जयगान और युद्ध-विरोधी विश्व शान्ति का उपदेश महाभारत के उन भीष्म पितामह के अनुरूप तो कदापि नहीं है जिन्होंने शान्ति पर्व मे राजधर्म और क्षात्र धर्म के विवेचन के समय इस पर जोर दिया था कि "क्षत्रिय का धर्म ही युद्ध में देह त्याग करना है। जो क्षत्रिय पृथ्वी को रुधिर रूपी जल, कटे हुए शिर रूपी तृण, हाथी रूपी पर्वत और ध्वजा रूपी वृक्ष धारण करने योग्य बनाता है वही धर्मात्मा है। युद्ध ही धर्म है, युद्ध ही स्वर्ग है।" शान्ति पर्व के पढ़ने के अनन्तर 'दिनकर' के 'कुरुक्षेत्र' में भीष्म द्वारा अहिंसा का उपदेश उनके अनुरूप तो नहीं कहा जा सकता, न भीष्म के अनुरूप वहाँ भाषा ही है। छठे सर्ग में भीष्म के विचार न होकर कवि के विचार हैं अतएव वहाँ भाषा ठीक है एव असंगति भी नहीं है। चतुर्थ एवं पंचम सर्ग में भी यदा-कदा भाषा प्रवाह मिलता है किन्तु सप्तम सर्ग (अन्तिम सर्ग) तो अधिकतर नीरस एवं शुष्क है। वहाँ भीष्म पितामह तो कवि 'दिनकर' की, कठपुतली बने हुए आधुनिक वायुमण्डल में पाले पोसे हुए आधुनिक सुधारकों की टूटी फूटी भाषा में सभी विषयों पर बोलते चले जाते हैं॥

धर्मराज ! क्या यती भागता
कभी गेह या वन से ?
सदा भागता फिरता है वह
एक मात्र जीवन से !

वह चाहता सदैव मधुर रस
नहीं तिक्त या लोना,
वह चाहता सदैव प्राप्ति ही
नहीं कभी कुछ खोना

प्रमुदित पाकर विजय, पराजय
देख खिन्न होता है
हँसता देख विकास ह्रास को
देख बहुत रोता है

रह सकता न तटस्थ खीझता,
रोता, अकुलाता है,
कहता, क्यों जीवन उसके
अनुरूप न बन जाता है

लेकिन, जीवन खड़ा हुआ है
सुघर एक ढांचे में
अलग अलग वह ढला करे
किसके किसके साँचे में ?

यती का रूप जो ऊपर दिखलाया है एक पेटार्थी पलायनवादी वृत्ति वाले व्यक्ति का है। सभी साधु-संन्यासी तो वैसे नहीं होते। और न भीष्म पितामह साधु-संन्यासियों को इस दृष्टि से देखते थे जो दृष्टि ऊपर लिखे छन्दों में बताई गई है। मिताहारी, अनाहारी, स्थान-रहित, शान्त स्वरूप, जितेन्द्रिय, निर्लोभी, समदर्शी, काम-क्रोध-मोह रहित, कैवल्य मोक्ष के इच्छुक संन्यासी आज भी भारत में विद्यमान हैं। द्वापर युग में तो अधिक रहे ही होंगे। वानप्रस्थ आश्रम के अनन्तर संन्यास आश्रम में प्रविष्ट होना उन दिनों आवश्यक था। कवि का यह दिखाने का प्रयत्न कि पितामह के हृदय में संन्यासियों के प्रति किंचित् भी श्रद्धा नहीं थी उपहास्यास्पद है।

भीष्म पितामह के अत्यधिक लम्बे भाषण के ६ कवित्त एवं

२१८ छन्दों में उनके अनुरूप कहीं विचार नहीं मिलते न उनकी गम्भीर वाणी ही सुनाई पडती है। भापण पढते-पढ़ते तबियत ऊबने लगती है। भाषा कृत्रिम है अतएव कम से कम १०, १५ छन्दों में एक छोटा भाव व्यक्त हो पाया है। अवश्य विपय नया था! जो बातें कवि को स्वय अपनी ओर से कहनी चाहिए थीं वे महाभारत के भीष्म पितामह से कहलाई हैं। अतएव भापा अस्वाभाविक होनी ही चाहिए थी। यदि भीष्म पितामह के अनुरूप भाषा और भाव होते तो एक-एक छन्द के पढ़ने पर ऐसा मालूम होता कि घने अन्धकार में रह रह कर, पग पग पर कोई उजाला करता चला जाता है। किन्तु यहाँ तो बहुत ऊँचा, गीता में व्यक्त हुआ, कर्मयोग भी व्योम से उतर कर मिट्टी पर पड़ा दिखाई पड़ता है :—

मरा सुयोधन जमी पड़ा
यह भार तुम्हारे पाले
सभलेगा यह सिवा तुम्हारे
किस के और सँभाले?

मिट्टी का यह भार सँभालो
बन कर्मठ सन्यासी
पा सकता कुछ नहीं मनुज
बन केवल व्योम प्रवासी

ऊपर सब कुछ शून्य शून्य है
कुछ भी नहीं गगन में
धर्मराज! जो कुछ है, वह है
मिट्टी में, जीवन में!

सम्यक विधि से इसे प्राप्त कर
नर सब कुछ पाता है
मृत्तिजयी के पास स्वयं ही
अम्बर भी आता है

भोगो तुम इस भांति भूमि को
दाग नहीं लग पाए
मिट्टी में तुम नहीं वहो
तुम में विलीन हो जाए

कहने का ढंग ही तो है। मिट्टी और व्योम को जीवन (कर्मयोग) एवं सन्यास (अथवा मोक्ष) का प्रतीक मानकर चलने से व्यञ्जना में अभिवृद्धि कैसे हो सकती है? भाव न तो भीष्म के उपयुक्त और न भाषा ही चमत्कार युक्त है ऊपर गगन है, उसमे शून्य शून्य है। मिट्टी मे जीवन है। जिसके पास मिट्टी है उसके पास अम्बर भी आ जाता है। शून्य शून्य भी आ जाता है। मिट्टी तुममे विलीन होनी चाहिए। तुम मिट्टी में मत विलीन होना, ये भाव आगे चलकर स्पष्ट किये जाते किन्तु जब तक २०, २५ छन्द और न पढ़े जायँ तब तक यह बात समझ मे नहीं आती कि कवि का आशय आगे यह है कि मन मे संयम एव स्वार्थ-त्याग की भावना लानी चाहिए। भाषा से पता चलता है कि भीष्म पितामह बेचारे बोलते बोलते और कवि चिन्तन करते-करते थक चुके हैं और भाव और भाषा दोनों ही लड़खड़ा रहे हैं, अतएव सुखद आशा पर ही आधार रखना उचित समझा जाता है:—

यह क्रन्दन, यह अश्रु, मनुज की
आशा बहुत बड़ी है
बतलाता है यह मनुष्यता
अब तक नहीं मरी है

सत्य नहीं पातक की ज्वाला
में मनुष्य का जलना,
सच है बल समेट कर उसका
फिर आगे को चलना

'मनुष्यता अभी नहीं मरी है,' 'बल समेट कर मनुष्य फिर आगे चलेगा' इन वाक्यों में भाषा उच्च स्तर पर पहुँच जाती है।

मैं यह नहीं कहता कि 'कुरुक्षेत्र' का सुचारु रूप से श्री गणेश नहीं हुआ। मेरी राय केवल यह है कि भीष्म पितामह के अन्तिम भाषण में भाषा एवं भाव का न तो सामजस्य ही है और न विचारों मे गम्भीरता ही है। अन्तिम कवित्त में पितामह का एक सारगर्भित उपदेश है'—

आशा के प्रदीप को जलाए चलो धर्मराज
एक दिन होगी मुक्त भूमि रणभीति से,
भावना मनुष्य की न राग मे रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से,
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से
स्नेह-बलिदान होंगे माप नरता के एक
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से

'कुरुक्षेत्र' में भी भीष्म पितामह को शर-शैया पर शर-विद्ध पड़े दिखाया गया है। शर-शय्या पर पडे पड़े युद्धवीर, पराक्रमी, युद्ध-प्रेमी, भीष्म की अहिंसा एवं युद्ध-विरोधी नीति द्वारा विश्व-शान्ति एवं विश्व-प्रेम की आशा करना एक अनौचित्य के अतिरिक्त और क्या है? क्या अन्तिम समय में भीष्म पितामह बौद्ध हो गये थे? अथवा जैन धर्म की दीक्षा ले ली थी?

जो उपदेश पितामह के मुख से अनुचित प्रतीत होता है वही उपदेश यदि कलिङ्ग-विजय के अनन्तर अशोक द्वारा दिया जाता तो स्वाभाविक होता एवं अशोक के अनुरूप ही कहा जाता। इसीलिए 'अशोक' में पढ़े हुए निम्नलिखित छन्दों की यहाँ सहसा याद आ जाती है:—

भरदो जीवन के रन्ध्रों मे,
शिल्पी ! युग युग के अमर गान,
जिनकी मधुमय स्वर लहरी से
हों सुखी विश्व के थके प्राण
पल्लवित करो तुम बोधि वृक्ष
जड़ वैर द्वेष की लपटों पर
पीड़ा के गह्वर में भर दो
चिर करुणा का आलोक शिखर

× × × ×

परिजन-सेवा से फूट पड़े
पुरजन-सेवा की भी धारा
मानव विमुक्त होकर तोड़े
हिन्सा प्रतिहिन्सा की कारा

× × × ×

जब जीवन के स्वर भटकेंगे
बेसुर प्रतिकूल दिशाओं में
जब द्वन्द्व दाह भर जाएगा
जन मन की अभिलाषाओं में
तब तार तार जोड़ता हुआ
करता युग युग का गरल पान,
जन-मन की बशी मे भरता
नव स्नेह-प्रीति के मधुरगान
साधता हुआ स्वर जीवन के
आकर कोई गायक महान
छेड़ेगा मीठी तान एक
झूमेगे जन के विपुल प्राण।
गूँथेगा वह अपनी लय से
उर उर के बिखरे प्रीति हास

प्रत्येक अधर में भर देगा
नव-जीवन की सम्मीलित प्यास

× × × ×

किसी महान् व्यक्ति की भाषा, अस्वाभाविक पद-प्रयोग से बचकर, बोलचाल के साधारण शब्दों से पृथक् होकर, भव्य अवश्य होनी चाहिए और भाषा तभी भव्य हो सकती है जब छन्द शब्दाडंबर से रहित हो परन्तु गभीर भाव पर आश्रित हो। गंभीर एव गहन भावों के लिए कवि को प्रौढ विचार शक्ति की आवश्यकता होती है।

अतएव सजीव कविता के लिए औचित्य, भाषा-प्रवाह, प्रसंगानुकूल ध्वनि-योजना, उपयुक्त स्थल पर शब्द-स्थापना एवं व्यक्ति के अनुरूप भाव और भाषा से भी अधिक कवि के प्रौढ़ विचारों की आवश्यकता है। जिस भाषा-शैली की नींव प्रौढ़ विचारों पर नहीं रखी गई वह शैली अधिक समय तक चल नही सकती। वह शैली उस लता के सदृश है जो किसी सूखे ठूँठ के सहारे ऊपर चढ़ती चली जाती है और ठूँठ के गिर पडने पर स्वयं भी धराशायी होकर सूख जाती है। प्रौढ़ विचारों के बिना, सुन्दर शब्दों का आडंबर, उन आभूषणों के सदृश्य है जो प्राणहीन नर-कङ्काल के ढाँचे पर रख दिए गए हों। अतएव काव्य में सजीवता लाने के लिए विचारों की मौलिकता एवं प्रौढ़ता भी अनिवार्य है। सुन्दर एवं प्रौढ़ विचारों पर आधारित छन्द का एक-एक शब्द सुनने या पढ़ने के अनन्तर भी बड़ी देर तक कानों में गूँजता रहता है और सुवासित पुष्प की सुगंध जिस प्रकार सूँघने के बाद भी बड़ी देर तक आती प्रतीत रहती है उसी भाँति प्रौढ़ एवं मौलिक विचारों पर आधारित छन्द के शब्द बहुत दिनों तक हृदय को तरंगायित करते रहते हैं।

अनुक्रमणिका

द्वितीय खण्ड—भाग ३

शुद्धि पत्र

तृतीय भाग

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७१	२०	अप्रयुक्त	अनुपयुक्त
२८४	१६	भा	भी
२६५	६	लिखित	लिखित वर्णन
२६७	११	सीता का	सीता की
२६७	१२	वणन	वर्णन
२८६ से २८६ और २६८		कौशिल्या	कौसल्या
२६६	१०	रहा	रही
३००	१८	निज	निजी
३०१	१३	आश्चर्य	आश्चर्य
३०३	२१	हा	ही
३०४	१४	विभषण	विभूषण
३१३	२४	प्रशशा	प्रशसा
३१४	१७	हुये	हुए
३२०	(ख ७)	यथाचिता	यथोचिता
३३२	१६	बैठाल	बैठा
३५०	२२	प्रतक्षण	प्रतीक्षण
३५१	१६	नहीं	कहीं
३६८	१	कावू	काव्य
३७८	७	देना	देता है
३८६	२४	सदेह	सदेह
३६१	३	करने का	करने की
४०५	११	सागर	नैपध

४१४	१	अभिप्यक्ति	अभिव्यक्ति
४१४	१४	अपित	अर्पित
४१५	६	ग्रूशे	ग्रूधे
४१६	२५	हा	ही
४३६	१०	वैद्य	वैद
४३६	१२	सगवाद	संघवाद
४४३	६	तो	और
४७३	२५	एडल	एडलर
५०१	१३	ललित	ललिता
५०८	८	शउदों	शब्दों
५१२	(अंतिम)	चिन्ताकर्पक	चित्ताकर्षक
५१३	१५	चरणा	चरणों
	२५	रीति काली	रीतिकाल
५१४	(अंतिम)	राने	सांचे
५१८	१	सोखत	सोखता
५२४	१२	जमी	जभी
५२५	१२	जाते	जाते हैं
५२६	२४	स्त्रभाविक	स्वाभाविक